श्री भगवती सूत्र पर
श्री जवाहिराचार्य
के
व्याख्यान
( भाग ३ )
श्री जवाहर विद्यापीठ
भीनासर (बीकानेर)
पुस्तक क्रमांक
विषय

व्याख्यान सार संग्रह पुस्तक माला का २१ वाँ पुष्प,

श्री मज्जवाहिराचार्य के—

# श्री भगवती सूत्र पर व्याख्यान

## तृतीय भाग
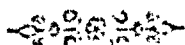
सम्पादक—
श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम की तरफ से
पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थ, ब्यावर,

द्रव्य सहायक—
श्रीमान् सेठ छगनलालजी साहब मुहता
ब्यावर वाला ( निलगिरी )

प्रकाशक—
मंत्री श्रीसाधुमार्गी जैन—
पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का
हितेच्छु श्रावक मंडल, रतलाम
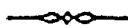
वीराब्द २४७२
विक्रमाब्द २००४
ई० सन् १९४७

पौना—मूल्य
१॥)

प्रथम
संस्करण
१०००

प्राप्तिस्थान—
श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल
रतलाम।
श्री जैन जवाहर मित्र मण्डल
मेवाड़ी बाजार, ब्यावर।
श्री सोहनलाल जैन रजोहरण पात्र
भण्डार, अम्बाला (पंजाब)
श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था
बीकानेर (मारवाड़)
श्री जैन जवाहर मण्डल, रायपुर
(सी० पी०)।

प्रकाशक—
श्रीसाधुमार्गी जैन पूज्य श्रीहुक्मीचन्दजी महाराज की
सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम.

मुद्रक—
मानमल जैन "मार्तण्ड"
वीरपुत्र प्रेस, नयाबाजार अजमेर.

# किञ्चिद् वक्तव्य

श्री साधुमार्गी जैन समाज के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य स्वर्गीय पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज सा. सफल व्याख्या कार हुए हैं। पूज्य श्री ने अपने जीवन काल में अनेक जैन सिद्धान्तों की विशद् व्याख्या की है। उसमें से कुछ के व्याख्यान ही मंडल की ओर से लिपिबद्ध किये गये हैं।

लिपिबद्ध व्याख्यानों में से श्रीमद्भगवती सूत्र के प्रथम शतक के व्याख्यानों का प्रकाशन चल रहा है। प्रथम शतक के दो उद्देशक के व्याख्यान तो दूसरे भाग में छपकर वाचकों की सेवामें पहुंच चुके हैं। यह तीसरा भाग भी आपकी सेवामें उपस्थित है। इस में तीसरे उद्देशक से छट्ठे उद्देशक तक के विस्तृत व्याख्यान हैं। शेप—उद्देशक के प्रवचन चतुर्थ और पंचम भाग में आप की सेवामें शीघ्र ही उपस्थित करने की चेष्टा की जावेगी।

इस विषय की विस्तृत भूमिका प्रथम एवं द्वितीय भाग में दीगई है अतः वार २ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

इस साहित्य के सम्पादन एवं प्रकाशन का कार्य तो श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्द्जी सा. गेलड़ा की उदारता एवं श्रीमान् सेठ ताराचन्द्जी साहब गेलड़ा की प्रेरणा से हुवा है। जिस समय इसके खर्च का अन्दाज लगाया गया था उस समय यह बात कल्पना में ही नहीं थी कि भविष्य में खर्च इतना अधिक बैठेगा इसलिये जितना आन्दाजा बताया गया था उतनी रकम

सेठ सा. ने भेज दी परन्तु वह रकम तो दो भागों में ही पूरी होगई। इसलिये साहित्य कम कीमत में मिल सके इस भावना से अन्य श्री मन्तों से प्रेरणा करनी पड़ी। प्रसन्नता की बात है कि श्रीमान् सेठ छगनलालजी साहब मूथा निलगीरी वालों ने तीसरे भाग के प्रकाशन खर्च में रु ५००) पाँचसौ अपनी तरफ से देने की उदारता की है। एतदर्थ हम श्रीमान् सेठ छगनलालजी साहब मूथा एवं इस कार्य के आद्य प्रेरक श्रीमान् सेठ इन्दरचन्दजी एवं सेठ ताराचन्दजी साहब गेलड़ा का भी आभार मानते हैं।

हमारी सदा ही यह भावना रहती है कि स्वर्गीय पूज्य श्री के प्रवचनों का साहित्य सिर्फ नाम मात्र की कम कीमत में जनता के हाथ में पहुँचे। परन्तु छपाई आदि खर्च इतना बढ गया है कि मजबूरन हमें कुछ अधिक मूल्य रखना पड़ा है।

फिर भी क्राउन सोलहपेजी २६ फार्म की चारसो से अधिक पृष्ठ की पुस्तक का पौणा मूल्य रु. १।।) जनता को भारी नहीं पड़ेगा ऐसा पूर्ण विश्वास है। इत्यलम्।

चांदनीचौक
रतलाम
आश्विन
शुक्ल १ सं०
२००४

भवदीय

सुजानमल तलेरा — मंत्री

हीरालाल नांदेचा — प्रेसीडेन्ट

श्री सा. जैन पू. श्री हु० हितेच्छु श्रावक मंडल,
रतलाम

## श्रीमान् सेठ छगनमलजी साहेब मूथा—

### मालिक फर्म-सेठ रिखबदासजी फतेहमलजी निलगिरी

### का

# संक्षिप्त परिचय

आप मरुधरान्तर्गत राजगांव में श्रीमान् बालचन्दजी मूथा के लघुपुत्र हैं। आपके पूज्य पिताजी का आपकी लघुवय में ही देहान्त होगया था, तथा-घर की स्थिति भी साधारण ही थी। इस कारण, आपकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध न होसका। आप को बचपन में ही आपके ज्येष्ठ भ्राता-श्री चुन्निलालजी के साथ दिसावर जानापड़ा। प्रथम खानदेश में फिर बेंगलोर और पश्चात् निलगिरी में आकर व्यवसाय करने लगे। यहाँ आपको लाभान्तराय के क्षयोपशम से लक्ष्मी की प्राप्ति अच्छी हुई। साथही शुभनिष्ठा और नीति पूर्वक व्यवसाय करने से-आपको यश भी मिला। आप निलगिरी में ख्याति प्राप्त व्यापारी हैं।

आप धर्म में दृढ श्रद्धावान एवं चुस्त धर्म प्रेमी हैं। श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज साहब की सम्प्रदाय के परम भक्त हैं। दो वर्ष पहले वर्तमान पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज सा. का ब्यावर में चातुर्मास था तब-आपने बहुत सेवा बजाई है। संघ सेवामें भी आपने अच्छा सहयोग दिया। इस मंडल के भी आप प्रथम श्रेणि के सभ्य हैं।

श्री जवाहिरस्मारक फंड में रुपये एक हजार एक प्रदान किये हैं तथा सत्यमूर्ति हरिश्चन्द्र तारा के चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन में आधा खर्च जो रुपये पांचसौ से अधिक दिया। इसी तरह श्री भगवतीसूत्र के प्रकाशन खर्च में भी रु. ५००) पांचसौ आपने भेजे हैं। इसलिये इस पुस्तक का खर्च रुपये दो हजार करीब आने से प्रत्येक पुस्तक का खर्च रुपये २) दो होते हैं किन्तु सेठजी की उदारता से इसपुस्तक का पौणा मूल्य रु. १।।) ही रक्खा जाता है। धर्म व्याख्या का भी अंग्रेजी में अनुवाद होकर वह भी सेठ साहब के तरफ से प्रकाशित की जाने का सुनाथा। इस प्रकार सेठ साहब की ज्ञान प्रचार के प्रति विशिष्ट रुचि देख परम आनन्द होता है।

भवदीय—<br>
मंत्री<br>
श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल<br>
रतलाम

# श्रीभगवतीसूत्रम्

## ( पञ्चमाङ्गम् )

## तृतीय भाग

प्रथम शतकः- तृतीय उद्देशक
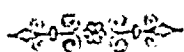
## विषय-प्रवेश

दूसरे उद्देशक के अन्त में असंज्ञी जीव के आयुष्य का विचार किया गया है। आयु, मोह के दोष से बँधता है; जब आयु का बंध होता है तब आठों ही कर्मों का बंध होता है। अतएव आयुबंध के अनन्तर कांक्षा-मोहनीय कर्म का विचार किया जाता है।

प्रथम शतक के प्रारंभ में उद्देशों संबंधी जो संग्रहगाथा कही गई थी, उसमें तीसरे उद्देशक के लिए 'कंखपओस' नाम दिया गया है, तदनुसार भी कांक्षामोहनीय कर्म का विचार करना आवश्यक है।

## मूल पाठ—

प्रश्न—जीवाणं भंते! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ?

उत्तर—हंता, कडे।

प्रश्न—से भंते! किं देसेणं देसे कडे, देसेणं सव्वे कडे, सव्वेणं देसे कडे, सव्वेणं सव्वे कडे ?

उत्तर—गोयमा! नो देसेणं देसे कडे, नो देसेणं सव्वे कडे, नो सव्वेणं देसे कडे, सव्वेणं सव्वे कडे।

प्रश्न—नेरइयाणं भंते! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ?

उत्तर—हंता, कडे। जाव-सव्वेणं सव्वे कडे; एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ भाणिअव्वो।

प्रश्न—जीवाणं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं करिंसु ?

उत्तर—हंता, करिंसु।

प्रश्न—तं भंते ! किं देसेणां देसं करिंसु ?

उत्तर—एएणं अभिलावेणं दंडओ भाणिअव्वो, जाव वेमाणिआणं। एवं करेंति, एत्थ वि दंडओ, जाव-वेमाणिआणं। एवं करिस्संति, एत्थ वि दंडओ जाव वेमाणिआणं। एवं चिए, चिणिंसु, चिणंति, चिणिस्संति; उवचिए, उवचिणिंसु, उवचिणंति, उवचिणिस्संति, उदीरेंसु, उदीरेंति, उदीरिस्संति; वेदेंसु, वेदेंति, वेदिस्संति; निज्जरेंसु, निज्जरेंति, निज्जरिस्संति। गाहाः—

कड-चिया उवचिया उदीरिया वेइया य निज्जिन्ना।
आदितिए चउभेया तियभेया पच्छिमा तिन्नि॥

संस्कृत छाया—

प्रश्न—जीवानां भगवन् ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतम् ?

उत्तर—हन्त, कृतम्।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किं देशेन देशं कृतम्, देशेन सर्वं कृतम्, सर्वेण देशं कृतम्, सर्वेण सर्वम् कृतम् ?

उत्तर—गौतम ! नो देशेन देशं कृतम्, नो देशेन सर्वम् कृतम्, नो सर्वेण देशं कृतम्, सर्वेण सर्वम् कृतम् ।

प्रश्न—नैरयिकाणां भगवन् ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतम् ?

उत्तर—हन्त कृतम्, यावत्-सर्वेण सर्वम् कृतम् । एवं यावद् वैमानिकानां दण्डकोभाणितव्यः ।

प्रश्न—जीवैः भगवन् ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतम् ?

उत्तर—हन्त, कृतम् ।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किं देशेन देशं कृतम्० ?

उत्तर—एतेनाभिलापेन दण्डको भणितव्यः, यावत्-वैमानिकानाम् । एवं कुर्वन्ति अत्रापि दण्डको यावत् -वैमानिकानाम् । एवं 'करिष्यन्ति' अत्रापि दण्डको यावत-वैमानिकानाम् । एवं चितम्, अचैषुः चिन्वन्ति चेष्यन्ति, उपचितम्, उपाचैषुः, उपचिन्वन्ति, उपचेष्यन्ति; उदीरितवन्तः, उदीरयन्ति, उदीरयिष्यान्ति; वेदितवन्तः वेदयन्ति, वेदयिष्यन्ति; निर्जरितवन्तः, निर्जरयन्ति,

निर्जरयिष्यन्ति । गाथा:—

कृत-चिता उपचिता उदीरिता वेदिताश्च निर्जीर्णाः ।
आदित्रिके चतुर्भेदाः, त्रिभेदाः पश्चिमास्त्रयः ॥

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! क्या जीवों का कांक्षामोहनीय कर्म कृत है ?

उत्तर—हां, गौतम ! कृत-क्रियानिष्पाद्य-है ।

प्रश्न—भगवन् ! क्या वह देश से देशकृत है, देश से सर्वकृत है, सर्व से देशकृत है या सर्व से सर्वकृत है ?

उत्तर—गौतम ! वह देश से देशकृत नहीं है, देश से सर्वकृत नहीं है, सर्व से देशकृत नहीं है, सर्व से सर्वकृत है।

प्रश्न—भगवन् ! नैरयिकों का कांक्षामोहनीय कर्म कृत है ?

उत्तर—गौतम हाँ, कृत है । यावत् सर्व से सर्वकृत है। इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक दंडक कहना चाहिये ।

प्रश्न—भगवन् ! जीवों ने कांक्षामोहनीय कर्म उपार्जन किया है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, किया है।

प्रश्न—भगवान् ! क्या देश से देशकृत है ! ( इत्या पूर्वोक्त कहना चाहिए। )

उत्तर—गौतम ! सर्व से सर्व किया है, इस प्रका यावत् वैमानिकों तक दंडक कहना चाहिए । इसी तर 'करते' और 'करेंगे' इन दोनों का कथन भी याव वैमानिकों तक करना चाहिये। तथा इसी प्रकार चय, च किया, चय करते हैं, चय करेंगे, उपचय, उपचय किया उपचय करते हैं, उपचय करेंगे, उदीरणा की, उदीरण करते हैं, उदीरणा करेंगे, वेदन किया, वेदन करते हैं वेदन करेंगे, निर्जीर्ण किया, निर्जीर्ण करते हैं, निर्जीर करेंगे, इन सबका कथन करना चाहिए। गाथाः—

कृत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जरित, इतने अभिलाप यहाँ कहने हैं। इनमें से कृत, चित और उपचित में एक-एक के चार भेद कहते हैं, अर्थात् सामान्य क्रिया, भूतकाल की वर्त्तमान काल की और भविष्यकाल की क्रिया, और पिछले तीन पदों में सिर्फ तीन काल की क्रिया कहनी है।

## व्याख्यान

प्रस्तुत कथन को समझने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि कांक्षा मोहनीय कर्म का लक्षण क्या है ? जो कर्म मुग्ध-मूढ़ बनाता है, जिसके प्रभाव से आत्मा गफलत में पड़ती है उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—चारित्र मोहनीय और दर्शन मोहनीय। यहाँ चारित्र मोहनीय कर्म के विषय में प्रश्न नहीं है, अतएव कांक्षामोहनीय शब्द का प्रयोग किया गया है।

कांक्षा का अर्थ यहां "अन्य दर्शनों की इच्छा करना" है। जैसे कोई सोचता है—'जैन धर्म वैराग्य की ओर प्रेरित करता है और संसार के आमोद-प्रमोदों के प्रति अरुचि उत्पन्न करता है। चार्वाक ( नास्तिक ) मत कितना सुन्दर है 'जो ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् (कर्ज काढ़ो और खूब घी पीओ) का उपदेश देता है सांसारिक सुख-भोग का समर्थन करता है। उसमें परलोक का किंचित् भी भय नहीं है, क्योंकि वह कहता है—भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।' अर्थात् यह जला हुआ शरीर फिर दूसरे भव में नहीं आता और आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है। ऐसी अवस्था में जैन धर्म को त्याग कर चार्वाक मत को ही ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार के विचार आना कांक्षा मोहनीय कर्म कहलाता है। कांक्षा मोहनीय के अन्तर्गत उपलक्षण से और बातें भी समझनी चाहिए। जैसे संशय मोहनीय, परपाखंड प्रशंसा मोहनीय आदि आदि।

कांक्षा मोहनीय का सरल अर्थ है—मिथ्यात्व मोहनीय। इसी के विषय में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—भगवन्! क्या कांक्षा मोहनीय कर्म जीव द्वारा किया हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान ने 'हां' में दिया है।

क्रियते—इति कर्म। अर्थात् कर्त्ता द्वारा जो किया जाय वह कर्म कहलाता है। जो कर्त्ता द्वारा नहीं किया जाता वह कर्म नहीं हो सकता। अगर बिना किये ही कर्म होने लगे तो जगत की सम्पूर्ण अवस्था उथल-पुथल हो जाय। जिसने ऋण नहीं लिया उसे चुकाना पड़े और जिसने अपराध नहीं किया उसे दंड भोगना पड़े तो बड़ी गड़बड़ी मच जाय। इसी से शास्त्र कहता है कि किये बिना कर्म नहीं हो सकता। कांक्षा मोहनीय जीव द्वारा किया जाता है, इसीलिए यह कर्म कहलाता है।

कई दार्शनिकों ने बिना किये ही कर्मों का लग जाना स्वीकार किया है। गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न करके यह स्पष्ट कर दिया है कि बिना किया कर्म आत्मा नहीं भोगता। जीव द्वारा करने से ही कर्म होता है।

इतना स्पष्ट होने के अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! जीव ने कांक्षा मोहनीय कर्म किया है तो देश से देश को किया है, देश से सर्व को किया है, सर्व से देश को किया है या सर्व से सर्व को किया है?

कार्य चार प्रकार से होता है। उदाहरणार्थ—एक आदमी अपने शरीर के एक देश—हाथ से कपड़े का एक भाग ग्रहण करता है। हाथ शरीर का देश है। उस एक देश से वस्त्र का एक देश ( भाग ) ग्रहण करता है। यह एक देश से एक देश का ग्रहण करना कहलाया। इसी प्रकार हाथ से समस्त कपड़े को ग्रहण किया तो वह देश से सर्व का ग्रहण करना कहलाया। यदि समस्त शरीर से वस्त्र के एक भाग को ग्रहण किया तो सर्व से देश का ग्रहण करना कहलाया और सारे शरीर से सारे वस्त्र का ग्रहण करना सर्व से सर्व का ग्रहण करना है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझे जा सकते हैं।

प्रकरण में देश अर्थ है—आत्मा का एक देश और एक समय में ग्रहण किये जाने वाले कर्म का एक देश। अगर आत्मा के एक देश से कर्म का एक देश किया तो यह देश से देश की क्रिया की। अगर आत्मा के एक देश से सर्व कर्म किया तो देश से सर्व की क्रिया कहलाई। सम्पूर्ण आत्मा से कर्म का एक देश किया तो सर्व देश की क्रिया हुई। और सम्पूर्ण आत्मा से सम्पूर्ण कर्म किया तो सर्व से सर्व की क्रिया कहलाई।

गौतम स्वामी ने इसी अभिप्राय से प्रश्न किया है। भगवान ने उत्तर में फर्माया है—हे गौतम! कांक्षा मोहनीय कर्म सर्व से सर्वकृत है अर्थात् समस्त आत्मप्रदेशों से समस्त कर्म किया हुआ है। पूर्वोक्त चौभंगी में से यहाँ चौथा भंग ही ग्रहण किया गया है।

केवल मात्र चतुर्थ अंग को स्वीकार करने का कारण है जीव का स्वभाव। जीव अपने स्वभाव से समस्त आत्म प्रदेशों के द्वारा एक क्षेत्रावगाढ़ कर्म पुद्गलों को, जो एक समय में बँधने योग्य हों, बाँधता है। अतएव एक काल में किया जाने वाला कांक्षा मोहनीय कर्म, जीव सर्व से सर्व को करता है। इसीलिए तीन अंगों का निषेध करके यहाँ सिर्फ चौथा अंग अंगीकार किया है।

अथवा—जिन आकाश-प्रदेशों में जीव का अवगाहन हो रहा है—जिस क्षेत्र में आत्मा के प्रदेश विद्यमान हैं, उसी आकाश प्रदेश में रहने वाले कर्म-पुद्गल एक-क्षेत्रावगाढ़ कहलाते हैं। ऐसे ही कर्म-पुद्गलों को जीव समस्त प्रदेशों से अपने में एकमेक करता है। जिस हेतु से आत्मा कर्म करता है, वह हेतु सभी कर्म प्रदेशों का है। इस प्रकार समस्त आत्म प्रदेशों द्वारा, एक समय में बंधने योग्य समस्त कर्म पुद्गलों को बाँधने के कारण कांक्षामोहनीय सर्व से सर्वकृत है।

कई ग्रंथकारों का मत है कि जीव के आठ प्रदेश खाली रहते हैं—वहाँ कर्म का बंध नहीं होता, लेकिन शास्त्र में ऐसा कथन उपलब्ध नहीं है।

यह समुच्चय का प्रश्नोत्तर था, अब दंडक-विशेष को आश्रित करके प्रश्न किया जाता है। गौतम स्वामी कहते हैं—भगवन्! नैरयिक कांक्षामोहनीय कर्म क्या उनका किया हुआ है?

भगवान—हाँ।

गौतम—वह भी सर्व से सर्वकृत है या दूसरी तरह से ?

भगवान्—वह भी सर्व से सर्वकृत है।

जैसे नैरयिक के लिए प्रश्नोत्तर हैं वैसे ही चौवीसों दंडकों के लिए प्रश्नोत्तर समझने चाहिए।

कर्म, क्रिया से निष्पन्न होता है और क्रिया तीनों कालों से संबंध रखती है। अतीत काल में कर्म-निष्पादन की क्रिया की थी, वर्त्तमान में की जा रही है—और भविष्य में भी की जायगी। इस त्रिकाल संबंधी क्रिया से कर्म लगते हैं। क्रिया पहले होती है, कर्म बाद में लगते हैं। कर्म वर्गणा के पुद्गलों का जब आत्मा के साथ संबंध हो जाता है तभी उन पुद्गलों की कर्म संज्ञा होती है। यह संज्ञा तबतक बनी रहती है जब तक कि वे आत्मा से झड़ नहीं जाते। यह कर्म, क्रिया से ही होते हैं, अतः क्रिया के द्वारा कर्म संबंधी प्रश्न किया गया है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! जीवों ने कांक्षामोहनीय कर्म किया है ? इसके उत्तर में भगवान ने फर्माया—हाँ गौतम, किया। इसके आगे देश से देश किया यावत् सर्व से सर्व किया ? यह प्रश्न है और उसका उत्तर पहले की ही तरह सर्व से सर्व किया, यह समझना चाहिए। इसी प्रकार वर्त्तमान काल और भविष्य काल संबंधी प्रश्नोत्तर भी हैं। जैसे—'भगवन्! जीव कांक्षामोहनीय कर्म करते हैं ? उत्तर-'हाँ गौतम, करते हैं।'

प्रश्न—'देश से देश करते हैं यावत् सर्व से सर्व करते हैं ?'
उत्तर—'गौतम ! सर्व से सर्व करते हैं ।' इत्यादि ।

इस समुच्चय-कथन की भाँति चौवीसों दण्डकों को लेकर, तीन काल लगाकर प्रश्नोत्तर स्वयं ही समझ लेने चाहिए।

यहाँ जो प्रश्नोत्तर 'कृत' के विषय में बतलाये गये हैं, वही प्रश्नोत्तर चित, उपचित, उदीरित, वेदित, और निर्जरित के विषय में भी समझने चाहिए। अर्थात् पूर्वोल्लिखित प्रश्नोत्तरों में जहाँ 'कृत' शब्द आया है, वहाँ चित, उपचित आदि शब्दों का प्रयोग करके प्रश्नोत्तरों की संघटना कर लेनी चाहिए।

यहां कृत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित, और निर्जरित के विषय में एक संग्रहगाथा कही है। उसमें यह बतलाया गया है कि कृत, चित और उपचित के चार-चार भेद करने चाहिए —एक सामान्य क्रिया और तीन काल की तीन क्रियाएँ। उदीरित, वेदित और निर्जरित में केवल तीन काल की ही क्रिया कहनी चाहिए। इन पदों के साथ सामान्य क्रिया का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

चित आदि का स्वरूप इस प्रकार है:—जो कर्म पहले उपार्जन किये हुए हैं, उनमें प्रदेश और अनुभाग की वृद्धि करना अर्थात् संक्लेशमय परिणामों से उन्हें बढ़ाना चय ( चित ) कहलाता है। यथा—किसी आदमी ने भोजन किया। भोजन करने में उसे सामान्य क्रिया लगी। फिर वह रागभाव से प्रेरित

होकर भोजन की सराहना करने लगा। सराहने से कर्म जैसे-जैसे आते हैं, वैसे-वैसे कर्मों की वृद्धि होती जाती है। इसे चय करना कहते हैं। बार-बार ऐसा करना-चय करना, उपचय करना कहलाता है।

अन्य आचार्यों के अभिप्राय से कर्म-पुद्गलों का ग्रहण करना मात्र चय कहलाता है और अबाधा काल को छोड़ कर दूसरे काल में, ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों को वेदने के लिए निषेचन करना उपचय कहलाता है।

कर्मबंध होने के पश्चात् और उदय से पहले का समय, जब कि कर्म सत्ता में पड़ा रहता है, फल नहीं देता, अबाधा काल कहलाता है। कर्म की स्थिति जितने कोड़ाकोड़ी सागर की होती है उतने ही हजार वर्ष का अबाधा काल होता है।

निषेचन का अर्थ है—वर्गीकरण। जीव पहली स्थिति में बहुत-से कर्मदलिकों का निषेचन करता है। उसके पश्चात् दूसरी स्थिति में बहुत कम कर्मदलिकों का निषेचन करता है। इस प्रकार यावत् उत्कृष्ट स्थिति में बहुत कम का निषेचन करता है। कहा भी है:—

*मोत्तूण सगमबाहं पढमाइ ठिईइ बहुयरं दव्वं।*
*सेसं विसेसहीणं जाव उक्कोसं ति सव्वासं॥*

अर्थात्--अपना *अबाधा काल छोड़कर प्रथम स्थिति में बहुतर द्रव्य को और इसी प्रकार यावत् उत्कृष्ट स्थिति में बहुत कम द्रव्य ( कर्मदलिकों ) का निषेचन करता है।

जो कर्म उदय में नहीं आये हैं उन्हें एक प्रकार के विशिष्ट करण द्वारा उदय में ले आना उदीरणा है और उदय में आये हुए कर्मों का फल भोगना वेदना कहलाता है। जीव-प्रदेशों से कर्म पृथक् करना निर्जरा है। स्थिति के परिपक्व होने पर कर्म, आत्मप्रदेश से पृथक् होते हैं, वह निर्जरा है और स्थिति पकने से पहले ही कर्मों को पृथक् करना महानिर्जरा है।

संग्रहगाथा में बतलाया गया है कि पहले के तीन पदों में चार-चार भेद और पीछे के तीन पदों में तीन-तीन भेद करने चाहिए। सो इसका क्या आशय है? इस भेद का क्या कारण है?

इसका उत्तर यह है कि कृत, चित और उपचित कर्म बहुत समय तक-सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक-ठहरते हैं। अतः इन तीन पदों में तीन काल बतलाने के साथ ही साथ, सत्ता रूप काल बताने के लिए सामान्य क्रिया का भी प्रयोग किया जाता है। उदीरणा आदि चिरकाल पर्यन्त नहीं रहते अतएव उनमें सामान्य काल नहीं बतलाया गया है-सिर्फ तीन काल ही बतलाये गये हैं। इसी कारण पहले के तीन पदों के चार-चार और अंतिम तीन पदों के तीन-तीन भेद किये गये हैं।

## मूलपाठ—

प्रश्न—जीवाणं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! वेदेंति।

प्रश्न—कहणं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

उत्तर—गोयमा ? तेहि तेहिं कारणेहिं संकिया, कंखिया, वितिगिंछिया, भेद समावन्ना, कलुससमावन्ना: एवं खलु जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति।

प्रश्न—से णूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवइयं।

प्रश्न—से णूणं भंते ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे, एवं चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति ?

उत्तर—हंता गोयमा ! एवं मणं धारेमाणे जाव-भवति ?

संस्कृत छाया—

प्रश्न—जीवा भगवन् ! काङ्क्षामोहनीय कर्म वेदयन्ति ?

उत्तर—हन्त गौतम ! वेदयन्ति ।

प्रश्न—कथं भगवन् ! जीवाः काङ्क्षामोहनीय कर्म वेदयन्ति ।

उत्तर—गौतम ! तैस्तैः कारणैः शंकिताः कांक्षिताः विचिकित्सिताः भेदसमापन्नाः, कालुष्यसमापन्ना एवं खलु जीवा काङ्क्षामोहनीय कर्म वेदयन्ति ।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! तदेव सत्यं निश्शंकं यज्जिनैः प्रवेदितम् ।

उत्तर—हन्त, गौतम ! तदेव सत्यं, निश्शंकं यज्जिनैः प्रवेदितम् ।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! एवं मनो धारयन्, एवं प्रकुर्वन्, एवं चेष्टमानः, एवं संवृण्वन् आज्ञाया आराधको-भवति ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! एवं मनो धरायन् यावत्-भवति ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! जीव क्या कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

उत्तर—हाँ गौतम, वेदन करते हैं।

प्रश्न—भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदते हैं ?

उत्तर—गौतम ! अमुक-अमुक कारणों से शंकायुक्त, कांक्षायुक्त, विचिकित्सायुक्त, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर, इस प्रकार जीव कांक्षामोहनीय कर्म को वेदते हैं।

प्रश्न—भगवन् ! क्या वही सत्य और निश्शंक है, जो जिनों ने निरूपण किया है ?

उत्तर—हाँ, गौतम ! वही सत्य और निश्शंक है, जो जिनों ने निरूपण किया है।

प्रश्न—भगवन् ! ( वही सत्य और निश्शंक है जो जिनों ने निरूपण किया है ) इस प्रकार मन में निश्चय करता हुआ, इसी प्रकार आचरण करता हुआ, रहता हुआ, संवर करता हुआ जीव आज्ञा का आराधक

होता है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, इसी प्रकार मन में निश्चय करता हुआ यावत् आज्ञा का आराधक होता है।

## व्याख्यान

श्रीगौतम स्वामी का प्रश्न है कि जीव क्या कांक्षा मोहनीय कर्म को वेदन करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भी भगवान ने फर्माया—हाँ, गौतम वेदन करता है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि यह प्रश्न पहले भी किया गया था, फिर दूसरी बार वही प्रश्न किस प्रयोजन से किया गया है ?

इस शंका का उत्तर यह है कि वेदन के कारणों का प्रतिपादन करने के लिए ही यह प्रश्न दोहराया गया है। सूत्र का मुख्य प्रयोजन मोक्ष प्राप्ति है। मोक्ष प्राप्ति में कांक्षा मोहनीय कर्म प्रबल बाधक है। इसके हटे बिना मोक्ष तो क्या; मोक्षमार्ग भी प्राप्त नहीं होता। इसलिए मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए कांक्षा मोहनीय कर्म को हटाना अनिवार्य है। इसका हटना तभी संभव है जब कि उसके कारणों को भलीभाँति समझ लिया जाय और उन्हें हटा दिया जाय। जब रोग के कारण हट जाते हैं तो रोग भी हट जाता है, उसी प्रकार कर्म के कारणों को हटा देने से कर्म भी हट जाते हैं।

प्राचीनकाल के वैद्य रोगी की परीक्षा करते समय रोग के कारणों पर विचार करते थे। वह पहले रोग के कारणों को दूर करते थे फिर रोग को हटाने का प्रयत्न करते थे। आज कल ऐसा नहीं देखा जाता। रोग के कारणों पर प्रायः विचार नहीं किया जाता और रोग को सिर्फ दबा देने की चेष्टा की जाती है। नतीजा यह होता है कि कारण विद्यमान रहने से कुछ ही दिनों में वह रोग फिर उमड़ पड़ता है और उसका दबाना कठिन हो जाता है।

ज्ञानमार्ग में कर्मनाश करने का उपदेश तो सभी देते हैं, लेकिन कर्म का असली कारण क्या है; यह बात बहुत कम लोग जानते हैं। इसीलिए यहाँ कर्म के कारणों पर प्रकाश डालने के लिये यह प्रश्न किया गया है। इस कथन में पुनरुक्ति की आशंका नहीं की जा सकती। कहा भी है:—

पुव्वभणियं पि पच्छा जं भन्नइ तत्थ कारणं अत्थि।
पडिसेहो य अणुराणा हेडविसेसोवलंभो त्ति॥

अर्थात्—एक बार कही हुई बात को फिर कहने के कारण यह है-प्रतिषेध, अनुज्ञा और एक प्रकार के हेतु का कथन। तात्पर्य यह है कि पहले कही हुई बात का प्रतिषेध करने के लिए पहले की बात की अनुमति देने के लिए और पूर्वोक्त बात में कोई विशेष हेतु देने के लिए उस बात को दोहराया जाता है। ऐसी जगह पुनरुक्ति दोष नहीं होता।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी हेतु पूछते हैं—भगवन्! जीव किन-किन कारणों से कांक्षा मोहनीय कर्म वेदते हैं?

भगवान ने उत्तर दिया—गौतम! वीतराग जिन भगवान की वाणी में देशतः या सम्पूर्णतः अर्थात् एक देश से या सर्व देश से सन्देह करना, कांक्षा करना अर्थात् वीतराग दर्शन को छोड़कर रागी प्रणीत दर्शन को स्वीकार करने की इच्छा करना या कुतीर्थिक का परिचय होने से मन में शंका करना, फल में शंका करना, बुद्धिभ्रम होना, इस प्रकार विद्वत्प्रसिद्ध कारणों से कांक्षा मोहनीय कर्म का वेदन होता है।

यहाँ 'तेहिं तेहिं कारणेहिं' इत्यादि वाक्यों में 'तेहिं-तेहिं' पद का प्रयोग दो बार क्यों किया है? इसका उत्तर यह है कि जब विशेष कारण बतलाना हो, बहुत बातों का विचार करना हो, जब जैसे 'वे वे' ऐसा कहा जाता है। उसी प्रकार यहाँ 'तेहिं तेहिं' दो बार कहा है।

यहाँ शंकित, कांक्षित आदि पदों पर किंचित् स्पष्टीकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है।

वीतराग भगवान ने अपने अनन्त केवल ज्ञान में जानकर जिन तत्वों का निरूपण किया है, उन तत्वों पर या उनमें से किसी भी एक पर शंका करना—कौन जाने यह ठीक है या नहीं इस प्रकार का संदेह करना शंका है।

एक देश या सर्व देश से अन्य दर्शन को ग्रहण करने की

इच्छा करना कांक्षा है। यह भी कांक्षा मोहनीय के वेदन का कारण है।

फल के विषय में संशय होना विचिकित्सा है। जैसे—मैं इतनी तपस्या करता हूँ, ब्रह्मचर्य आदि पालता हूँ, लेकिन अभी तक तो कुछ फल मिला नहीं है, कौन जाने आगे मिलेगा या नहीं !

बुद्धि में द्वैधीभाव उत्पन्न हो जाना भेदसमापन्नता है। जैसे—जिन शासन यह है या वह है ? इस प्रकार जिन शासन के विषय में जिसकी बुद्धि भेद को प्राप्त हो रही है, वह भेद समापन्न कहलाता है। अथवा अनध्यवसाय वाले को भेद समापन्न कहते हैं। अनिश्चित ज्ञान अनध्यवसाय कहलाता है। अथवा पहले शंका अथवा कांक्षा उत्पन्न हुई, इसलिए उसके कारण बुद्धि में विभ्रम पैदा हो गया—अतएव भेद समापन्न का अर्थ है—भ्रान्तबुद्धि वाला।

विपरीत बुद्धि वाला कलुषसमापन्न कहलाता है। जो वस्तु जिन भगवान ने जैसी प्रकट की है, उसे उसी रूप में निश्चय न करके विपरीत रूप में समझना कलुषसमापन्नता है।

भगवान फर्माते हैं—हे गौतम ! इन कारणों से जीव निश्चय ही कांक्षा मोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

कांक्षा मोहनीय कर्म वेदने के कारण स्पष्ट होने के पश्चात् गौतम स्वामी उसे हटाने का कारण पूछते हैं। कभी-कभी

ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती है कि विचारवान पुरुषों का अभाव हो जाता है, अथवा उनकी संगति मिलना कठिन हो जाता है। कभी-कभी मनुष्य पक्षपात के गँठीले जाल में फँस जाता है। उस समय बुद्धि अगर हो भी तो वह विपरीत दिशा की ओर ले जाती है। किसी में इतनी बुद्धि ही नहीं होती कि किसी बात पर गंभीरता के साथ विचार करके वह निर्णय कर सके। अतएव तार्किकों की तर्कतरंगों में बहना स्वाभाविक हो जाता है। इन अनेकविध अन्तरायों की विद्यमानता में क्या उपाय है जिसका अवलंबन करके कांक्षामोहनीय कर्म से जीव बच सकता है? इस संबंध में किसी ने कहा है—

*तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं ।*
*धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्था ॥*

तर्क–जल की तरल तरंगों की तरह चपल है। तर्कवितर्क और वादविवाद के द्वारा धर्म की खोज करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि तर्क किसी अभ्रान्त निर्णय की प्रमाणिक कसौटी है या नहीं? तर्क की भूमिका पर खड़ा हुआ विश्वास या निर्णय बालू की नींव पर खड़े हुए प्रासाद के समान तो नहीं है? जो दूसरे प्रबलतर तर्क की आँधी के एक ही झकोरे में भूमिसात् हो सकता है? तर्क वास्तव में मस्तिष्क का कायम है। तर्क हृदय की, आत्मा की खुराक नहीं है। तर्क मनुष्य को भुलावे में से निकाल नहीं सकता, प्रत्युत भुलावे में डालता है। तर्क के चक्कर में पड़ा हुआ मनुष्य दिङ्मूढ़ बन जाता है।

शुष्क तर्क करने वाले, किसी एक निर्णय पर पहुंचने के लिए तर्क नहीं करते, किन्तु दूसरों को दबाने के लिए ही तर्क करते हैं। तर्क से धर्म की सिद्धि नहीं होती। तर्क जाल से वस्तु भी अवस्तु सिद्ध करके दिखाई जाती है।'

अगर तर्क को त्याग कर वेद पर विश्वास किया जाय तो भी गति नहीं है। वेद पर विश्वास करने से द्वैत, अद्वैत, मांसभक्षण की कर्त्तव्यता अकर्त्तव्यता, हिंसा, अहिंसा आदि की उलझनें आ पड़ती हैं। अगर वेद का अर्थ-व्याख्यान करने वाले ऋषि की शरण गहाजाय तब भी कोई ठिकाना नहीं। ऋषि एक नहीं, अनेक हैं और हुए हैं। उनके कथन आपस में विरोधी हैं। तब किस पर श्रद्धान करना चाहिए? आत्मकल्याण के लिए किस पथ का अनुसरण करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर पूर्वोक्त श्लोक में यह दिया गया है कि जिस मार्ग से 'महाजन' गये हैं, उसी मार्ग पर चलना चाहिए—वही सच्चा मार्ग है। मगर इस उत्तर पर भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर 'महाजन' कौन है?

'महाजन' कौन है? इस विषय पर स्वर्गीय तिलक और श्रीभांडारकर में वादविवाद छिड़ा था। साथ ही यह भी विचारणीय था कि महाजन का मार्ग कौन-सा है? भांडारकर कहते थे—जिस मार्ग को बहुजन समाज माने, वह महाजन का मार्ग है। तिलक ने कहा—यह ठीक नहीं। ऐसा मानने से पहले यह देखना चाहिए कि बहुजनसमाज सत्य बोलता है या

असत्य ? बहुजनसमाज मांसाहारी है या मांसाहारत्यागी ? बहुजनसमाज में असत्यवादी और मांसाहारी ही अधिक संख्या में पाये जाएँगे, तो क्या उन्हें महाजन और उनके मार्ग को धर्म का मार्ग मानना चाहिए ? क्या हमें भी उन्हीं का साथ देना चाहिए ? ऐसा करना उचित नहीं है। यह तो बुद्धि को धोखा देना है। अतएव महाजन किसी व्यक्ति विशेष को ही समझना चाहिए। मगर वह व्यक्ति विशेष कौन है, जिसे महाजन के सिंहासन पर आसीन किया जाय ? अगर ब्रह्मा को महाजन समझा जाय तो उनका सिर कटने और तिलोत्तमा पर मोहित होने आदि का चरित्र भयंकर है, जिसे अपनाने पर हम लोग भी डूब जाएँगे। अगर विष्णु को महाजन मानें तो भी दिक्कत है। विष्णु-पुराण के रचयिताओं ने उनकी रासलीला और गोपीक्रीड़ा का जो मोहक वर्णन किया है, उसे अपनाने पर हम लोग डूब जाएँगे। शिवजी और पार्वती में ऐसी लड़ाई हुई कि जैसी मामूली घरों में भी नहीं होती। उन्हें महाजन कैसे माना जाय ? उनका अनुकरण किस प्रकार किया जाय ? फिर महाजन का निर्णय कैसे किया जाय ? चाहे उक्त पौराणिक वर्णन आलंकारिक ही हो, लेकिन बाल जीवों को समझने के लिए यह महापुरुष नहीं ठहरते।

अन्त में तिलक ने अपनी-अपनी मति को ही आधार मान कर छोड़ दिया कि जो मार्ग लोक और आत्मा के विरुद्ध न हो वही महाजन का मार्ग है। मगर तिलकजी का यह

निर्णय भी पूर्ण और अभ्रान्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अधिकांश लोगों की मति ऐसी नहीं होती, जो विरुद्ध, अविरुद्ध को भलीभाँति समझ सके। उन्हें कोई मार्ग बतलाने वाला चाहिए, जो उनसे कहे कि इस मार्ग पर चलो। अन्ततोगत्वा धर्म की स्थिति विश्वास में है। मगर विश्वास किस पर करना चाहिए? यही बात श्रीगौतम स्वामी ने भगवान् से पूछी है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! क्या वही बात सत्य समझनी चाहिए, जो जिन के द्वारा प्ररूपित की गई हो?

जैसे ब्रह्मा, विष्णु आदि व्यक्तिवाचक नाम हैं, उस प्रकार 'जिन' यह किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। 'जिन' एक पदवी है। जिसने प्रकृष्ट साधना के द्वारा अनादिकालीन राग-द्वेष आदि समस्त आत्मिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली हो, वह महापुरुष 'जिन' कहलाता है, फिर भले ही उसका नाम कुछ भी क्यों न हो? जिसने राग-द्वेष और अज्ञान से अपने आत्मा को पृथक् कर लिया है, उसके वचनों में संदेह करने की गुंजाइश नहीं है। जिन द्वारा उपदिष्ट धर्म, जैनधर्म कहलाता है। जैनधर्म किसी झगड़े का नाम नहीं है। विजय पर आ जाना ही जैनत्व है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है:—

*माणुसं विग्गहं लद्धुं, सुइ धम्मस्स दुल्लहा॥*
*जंसुच्चापडिवज्जन्ति, तवं खन्तियहिंसयं॥*

अ० ३ गाथा ८

जिन शास्त्रों से तप, क्षमा और अहिंसा की भावना जागृत हो, वही वीतराग का कहा हुआ शास्त्र है। जिन शास्त्रों में इन उच्चतम भावनाओं के प्रति प्रेरणा है, उन्हें निस्संशय मान लेना चाहिए। वही जिन-वचन हैं। इस पंचम काल के पुरुषों के लिए जिन वचन ही एक मात्र आधार हैं। उनमें संशय करना आत्मा का घात करना है। जिन भगवान के वचनों में संदेह करने का कोई कारण भी नहीं है। क्योंकि राग-द्वेष और अज्ञान ही मिथ्याभाषण के कारण हैं और जहाँ इन दोषों का सर्वथा अभाव है, वहाँ कोई असत्य भाषण कर ही कैसे सकता है?

धर्म में, बुद्धिवाद को अलग रख देने की आवश्यकता है। बुद्धिगम्य विषय ही बुद्धि द्वारा विचारणीय हो सकते हैं। जो विषय सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म हैं और जो चिरकालीन तपस्या-जन्य अनुभूति के द्वारा ही गम्य हो सकते हैं, उनमें बुद्धि भिड़ाने का परिणाम विपरीत ही हो सकता है।

सारांश यह है कि जिसमें राग-द्वेष नहीं है वह चाहे चाण्डाल कुल में ही क्यों न जन्मा हो, जैसे हरिकेश मुनि–त भी उसकी बात मान्य है। इसके विपरीत जो रागी और द्वेषं है, वह भले ही राजकुल में जन्मा हो, उसका वचन प्रामाणिव नहीं है। यही जैनधर्म का रहस्य है। इसे ठीक-ठीक समझ लेने पर धर्म-विषयक कोई झगड़ा नहीं रहता।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया—हाँ गौतम ! वही बात सत्य और संशयरहित है जो 'जिन' की कही हुई है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! निश्चय पूर्वक ऐसी श्रद्धा करने से कि-'जिन' की कही हुई बात सत्य और संशयरहित है, तथा यही बात हृदय में स्थिर करने से, इसी प्रकार की क्रिया करने से, किसी के पूछने पर ऐसा ही कहने से, अन्यथा न कहने से, मन में भी जिन भगवान के वचनों को ही सत्य समझने से और अन्यथा न समझने से, तथा जिन वचन के अनुसार प्राणातिपात, असत्य, चोरी आदि से मन को हटा लेने से क्या ज्ञान, दर्शन और चरित्र के सेवन रूप जिन की आज्ञा का आराधक होता है ? क्या वह जिन भगवान की आज्ञा का पालन करने वाला है ?

भगवन् ने उत्तर दिया—हाँ गौतम ! जो जीव ऐसा करता है वह जिन की आज्ञा का आराधक है।

इस जगह इस बात पर विशेष भार दिया गया है कि धर्म का पालन हृदय से करो। कोरे बुद्धिवाद से आत्मा का विकास नहीं होता। अतएव किसी के वचन मानने से पहले वक्ता की परीक्षा करनी चाहिए। सत्य वक्ता वही हो सकता है जिसने राग-द्वेष को जीत लिया हो। इसलिए उपदेश ग्रहण करने से पहले उपदेशक को इस कसौटी पर कस लेना

चाहिए। परीक्षा किया हुआ सत्य वक्ता जो उपदेश देगा, उसके उपदेश से धोखा नहीं होता। इस पाँचवें आरे में आगे चलकर ज्ञान की और न्यूनता हो जायगी। इस समय किसके वचन पर चलना चाहिए यह निर्णय करने के लिए भगवान् ने यह बतलाया है कि 'जिन' के वचन सत्य हैं और संदेहरहित हैं।

जिन के वचन क्यों सत्य हैं, इस संबंध में पहले कुछ कहा जा चुका है। बात यह है कि मनुष्य का ज्ञान राग-द्वेष आदि कषायों के कारण ही मिथ्या होता है। जितने जितने अंश में राग-द्वेष क्षीण होते जाते हैं उतने-उतने अंशों में ज्ञान में निर्मलता आती जाती है। जब कषाय पूर्ण रूप से क्षीण हो जाते हैं तब ज्ञान में पूर्ण निर्मलता आ जाती है और अज्ञान का नाश होने पर ज्ञान अनन्त हो जाता है। यहाँ मनुष्यों की ऐसी स्थिति है कि इसमें असत्य के लेश की भी संभावना नहीं है। अतएव जो वस्तु जैसी है, उसे जिन वैसी ही बतलायेंगे। वास्तविकता के विपरीत बतलाने का कारण राग-द्वेष और अज्ञान है और उन दोषों को जिन दूर कर चुके हैं, या यों कहिए कि जो इन्हें दूर कर देता है वही जिन कहलाता है। इस कारण जिन वही बात कहेंगे जो सत्य हो। व्यवहार में भी ईमानदार की बात मानी जाती है, बेईमान की नहीं मानी जाती। यही बात लोकोत्तर नियमों में भी समझ लेनी चाहिए।
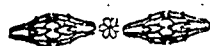
# अस्तित्व और नास्तित्व
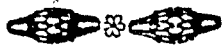
प्रश्न—से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! जाव परिणमइ ।

प्रश्न—जं तं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ, तं किं पओगसा, वीससा ?

उत्तर—गोयमा ! पओगसा वि तं, वीससा वि तं ।

प्रश्न—जहा ते भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, तहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ, तहा ते अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, तहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ ? जहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ, तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ?

उत्तर—जहा 'परिणमइ' दो आलावगा, तहा ते इह गमणिज्जेण वि दो अलावगा भाणिअव्वा । जाव-जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ।

प्रश्न—जहा ते भंते ! एत्थं गमणिज्जं तहा ते इहं गमणिज्जं, जहा ते इहं गमणिज्जं तहा ते एत्थं गमणिज्जं ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! जहा मे एत्थं गमणिज्ज जाव-तहा मे एत्थं गमणिज्जं ।

संस्कृत छाया—

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! यावत् परिणमति ।

प्रश्न—यत् तद् भगवन् ! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति, तत् किं प्रयोगेण, विस्रसया ?

उत्तर—गौतम ! प्रयोगेणपि तत्, विस्रसयाऽपि तत् ।

प्रश्न—यथा ते भगवन् ! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, तथा ते नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति ? यथा ते नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति, तथा ते अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! यथा मे अस्तित्वमस्तित्वे परिणमति, तथा मे नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति; यथा मे नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति, तथा मे अस्तित्वमस्तित्वे परिणमति ।

प्रश्न—तद् नूनं ! अस्तित्वेमास्तित्वे गमनीयम् ?

उत्तर—यथा 'परिणमति' द्वौ आलाप कौ, तथा ते इह गमनीयेनापि द्वौ आलापकौ भणितव्यौ । यावत्—यथा मे ऽस्तित्वेमास्तित्वे गमनीयम् ।

*प्रश्न—यथा ते भगवन् ! अत्र गमनीयं तथा ते इह गमनीयम्, यथा ते इह गमनीयं तथा तेऽत्र गमनीयम् ?*

*उत्तर—हन्त, गौतम ! यथा मेऽत्र गमनीयं, यावत् तथा मेऽत्र गमनीयम् ।*

## शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है, नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, इसी प्रकार यावत् परिणत होता है ?

प्रश्न—भगवन् ! वह जो अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, सो वह क्या प्रयोग से—जीव के व्यापार से-या स्वभाव से परिणित होता है ?

उत्तर—गौतम ! वह प्रयोग से और स्वभाव से-दोनों तरह-से परिणत होता है।

प्रश्न—भगवन् ! जैसे आपके मत से अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है। उसी प्रकार नास्तित्व नास्तित्व में परिणित होता है ? और जैसे आपके मत से

नास्तित्व नास्तित्व में परिणित होता है, उसी प्रकार अस्वित्व अस्तित्व में परिणित होता है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, जैसे मेरे मत से अस्तित्व अस्तित्व में परिणित होता है उसी प्रकार नास्तित्व नास्तित्व में परिणित होता है। और मेरे मत से जैसे नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्व में परिणित होता है।

प्रश्न—भगवन् ! अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है ?

उत्तर—गौतम ! जैसे परिणत होता है, इस पद के आलापक कहे हैं। उसी प्रकार यहाँ 'गमनीय' पद के साथ भी दो आलापक कहने चाहिए। यावत्–जैसे मेरा अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है।

प्रश्न—भगवन् ! जैसे आपके मत में यहाँ (स्वात्मा में) गमनीय है, उसी प्रकार इह ( परात्मा में ) गमनीय है ? जैसे आपके मत में इह गमनीय है, उसी प्रकार यहाँ गमनीय है ?

उत्तर—हाँ, गौतम ! जैसे मेरे मत में यहाँ गमनीय है, यावत् उसी प्रकार यहाँ गमनीय है।

## व्याख्यान

वस्तु का विद्यमान होना अस्तित्व कहलाता है और विद्यमान न होना नास्तित्व कहलाता है। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि जो वस्तु है वह अपने अस्तित्व में और जो वस्तु नहीं है वह अपने नास्तित्व में परिणत होती है ?

उंगली का उंगली के रूप में होना, यह अस्तित्व है। उँगली का अस्तित्व कहने मात्र के लिये नहीं है, किंतु उँगली की लम्बाई, चौड़ाई आदि पर्यायें भी वैसी ही हैं। उँगली का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव रूप में परिणत होना अस्तित्व का अस्तित्व रूप में परिणत होना कहलाता है। जिसका अस्तित्व है वही स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप में परिणत होता है।

तात्पर्य यह है कि उँगली आदि कोई भी वस्तु, जिसका अस्तित्व है वह अपने पर्याय से भिन्न नहीं है, यानी पर्याय होने पर भी अस्तित्व अस्तित्व रूप में ही है। उँगली अस्तित्व है, इसीलिए चाहे वह सीधी हो या टेढ़ी हो, अपने पर्याय—अस्तित्व रूप ही परिणत होती है। सीधी होना या टेढ़ी होना उंगली का ही धर्म है। सीधी रहे तब भी उंगली है और टेढ़ी हो तब भी उंगली है। अतएव अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणमन करता है।

जिस वस्तु में अस्तित्व है--जो सत् है, उसका रूपान्तर भले ही हो जाय अर्थात् वह एक रूप से पलट कर दूसरे रूप में भल ही पहुँच जाय, मगर वह रहेगी सद्रूप ही। सत्ता, कभी असत्ता नहीं बन सकती। सत्ता का विनाश होना त्रिकाल में भी संभव नहीं है। उदाहरण के लिए मिट्टी को लीजिए। वह पहले बिखरी हुई और सूखी थी। उसमें पानी डाला गया तब वह गीली हो गई। उसका एक पिंड बन गया। इतना परिवर्तन होने पर भी मिट्टी, मिट्टी ही रही। उसकी सत्ता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है। इसके अनन्तर कुम्हार ने उस मिट्टी के पिंड को चाक पर चढ़ाया और उसका घड़ा बना लिया। तब भी मिट्टी तो कायम ही रही। मिट्टी के एक रूप में उसकी सत्ता अखण्ड है। इस प्रकार अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणत होताहै। अर्थात् सत् पदार्थ के जितने भी परिणमन होंगे वह सब सत् स्वरूप ही होंगे। सत्ता त्रिकाल और त्रिलोक में कभी असत्ता नहीं बनेगी।

पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व, दोनों धर्म विभिन्न अपेक्षाओं से विद्यमान हैं। यद्यपि दोनों धर्म परस्पर विरोधी से प्रतीत होते हैं और साधारणतया ऐसा मालूम होता है कि जहाँ अस्तित्व है वहाँ नास्तित्व कैसे रह सकता है? और जहाँ नास्तित्व है वहाँ अस्तित्व किस भाँति रहेगा? लेकिन इन दोनों धर्मों में विरोध नहीं है। यही नहीं, वरन् साहचय संबंध है। जहाँ अस्तित्व है वहाँ नास्तित्व, और जहाँ नास्तित्व

है—वहाँ अस्तित्व अवश्य होगा। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। मगर यहाँ अपेक्षाभेद का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि एक ही अपेक्षा से अगर अस्तित्व और नास्तित्व-दोनों एक पदार्थ में स्वीकार किये जाएँ तो विरोध आता है, मगर अलग-अलग अपेक्षाओं से दोनों का एक ही पदार्थ में अस्तित्व मानना विरुद्ध नहीं है। उदाहरण के लिए वस्त्र को ही लीजिए। वस्त्र में अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व है, पररूप की अपेक्षा नास्तित्व है। अर्थात् वस्त्र, वस्त्र है, चश्मा, घड़ा, या घड़ी आदि नहीं है। इस प्रकार वस्त्र में जहाँ अस्तित्व है—वहाँ नास्तित्व भी है। अगर वस्त्र में पररूप से नास्तित्व न माना जाय तो वस्त्र पररूप भी हो जायगा अर्थात् चश्मा, घड़ा, घड़ी आदि भी—कहलाएगा। इस प्रकार प्रतिनियत पदार्थों की व्यवस्था होना असंभव हो जायगा। अतएव विवक्षाभेद से प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों स्वीकार करने चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है और नास्तित्व, नास्तित्व रूप में ही परिणत होता है, यह प्रश्न क्यों किये गये हैं? अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है? यह एक ही प्रश्न क्यों नहीं किया गया?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि केवल अस्तित्व संबंधी प्रश्न करने से सब वस्तुएँ एक रूप हो जातीं, ऐसा न हो

इसीलिए नास्तित्व को भी बतलाया है। जहाँ अस्तित्व है, वहाँ नास्तित्व भी अवश्य है, इस सत्य को प्रकाशित करने के लिए नास्तित्व संबंधी प्रश्न की आवश्यकता थी। नास्तित्व को ग्रहण न करने से वेदान्तियों के सत्ताद्वैत का प्रसंग आ जाता, जो समीचीन नहीं है। प्रत्येक वस्तु केवल सत्तामय नहीं है, वरन् सत्ता और असत्तामय है। उंगली, उंगली है, अंगूठा नहीं है। उंगली यदि उंगली रूप में अस्ति है तो अंगूठा रूप में नास्ति है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अंगूठा स्वयं अंगूठे के रूप में नास्ति है। जो है वही है, वह अन्य वस्तु रूप नहीं है। ऐसा न माना जाय तो जगत् में पदार्थों की जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है, विभिन्न पदार्थों के विभिन्न नाम और रूप जो स्पष्ट दिखलाई देते हैं और उन पदार्थों से जो स्वानुभव-प्रमाण-सिद्ध पृथक् पृथक् व्यवहार होते हैं, वह सब मटियामेट हो जाएँगे। अतएव यही मानना अनुभव और युक्ति से अनुकूल है कि प्रत्येक पदार्थ में स्वविषयक अस्तित्व के साथ पर विषयक नास्तित्व भी विद्यमान है।

एकान्त नास्तित्व मानने से पदार्थों की अनुभवसिद्ध सत्ता ही भंग हो जाती है, अतएव एकान्त अस्तित्व की भाँति एकान्त नास्तित्व भी पदार्थों में नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही पदार्थ में मानने उचित हैं और इसी अभिप्राय से यहाँ अस्तित्व और नास्तित्व दोनों के विषय में प्रश्न किये गये हैं।

यह जैन दर्शन का सिद्धान्त है। इस विषय में गीता का कथन है—

*नासतो विद्यते भावो नाऽभावो जायते सतः !*

अर्थात्—तत्वदर्शियों ने यह बात अन्त तक देखली है कि जो सत् है, विद्यमान है, यह कभी असत्-अविद्यमान रूप नहीं हो सकता। अर्थात् अस्तित्व सदैव अस्तित्व रहता है, और जो असत-नास्तिरूप है वह कभी सत् नहीं हो सकता। अर्थात् नास्तित्व सदा नास्तित्व रूप से ही परिणत होता है।

जिसका अस्तित्व है, उस वस्तु का अत्यन्त विनाश कभी नहीं हो सकता। उसकी पर्याय मात्र बदलती है-रूपान्तर होता है। पर्याय बदल जाने को ही लोग विनाश होना कहते हैं, लेकिन ज्ञानी जनों ने यह देखा है कि जिसका अस्तित्व है उसका विनाश नहीं है। आज जो पुद्गल वस्त्र रूप में है, वह पहले सूत के रूप में था, उससे भी पहले रुई, कपास, पौधा और बीज-मिट्टी आदि के रूप में था। वह जिस किसी भी रूप में था, पर पुद्गल रूप में उसकी सत्ता विद्यमान ही थी। शून्य से कभी कोई वस्तु नहीं बनती। सत् पदार्थ का ही रूपान्तर होता रहता है। अतएव रूपान्तर चाहे होता रहे, मगर वस्तु का समूल नाश कभी नहीं होता। वस्त्र को फाड़ कर चिंदी-चिंदी कर दिया जाय और उसे पृथ्वी में भी गाड़ दिया जाय तो भी वह समूल नष्ट न होगा। वस्त्र असल में पुद्गल

द्रव्य है और किसी भी अवस्था में पुद्गल द्रव्य ही रहेगा। शास्त्रकार विनाश का अर्थ दूसरे रूप में पलट जाना ही मानते हैं अर्थात् नया रूप उत्पन्न होने के साथ पुराने रूप का नष्ट हो जाना ही विनाश कहलाता है। आजतक किसी ने कभी किसी वस्तु को सत् से सर्वथा असत् होते नहीं देखा और इसी प्रकार असत् से सत् होते भी नहीं देखा। वस्तुतः ऐसा होना संभव ही नहीं है।

इस जगह टीकाकार ने एक और उदाहरण दिया है। वे कहते हैं—मान लीजिए एक दीपक जल रहा है और उसका उजियाला आपको दिखाई दे रहा है। किसी कारण से दीपक बुझ गया। अब आप कहेंगे कि दीपक का नाश हो गया। मगर वास्तव में वह प्रकाश अपने मूल रूप में नष्ट नहीं हुआ। प्रकाश का मूल पुद्गल है। प्रकाश पुद्गल की एक अवस्था है। वह प्रकाश-पुद्गल अब अपनी पर्याय पलट कर अंधकार के रूप में परिणत हो गया है। अंधकार भी एक प्रकार का पुद्गल ही है। इस प्रकार जो पुद्गल पहले प्रकाश अवस्था में था वह अब अंधकार अवस्था में आ गया। दोनों अवस्थाओं में पुद्गल द्रव्य वही है।

अंधकार को कुछ लोग अभाव रूप मानते हैं, पर जैनदर्शन में उसे भी पुद्गल रूप ही माना है। जैन न्याय के ग्रंथों में, इस संबंध में विस्तारपूर्वक युक्तिसंगत विवेचन किया गया है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी इस विषय पर प्रकाश डालते हुए मोमबत्ती का उदाहरण दिया है। मोमबत्ती के जल जाने पर लोग समझते हैं कि वह नष्ट हो गई, लेकिन वैज्ञानिकों का कथन है कि वह नष्ट नहीं हुई, सिर्फ उसके पुद्गल बिखर गये हैं। अगर जलती हुई मोमबत्ती के पास दो खास यंत्र रख दिये जावें तो उसके परमाणु उन यंत्रों में एकत्रित हो जाएँगे। उन्हें मिला देने पर फिर मोमबत्ती बन सकती है। इसका आशय यह हुआ कि लोग इस प्रकार रूपान्तर होने को ही नाश होना मानते हैं, लेकिन वस्तु का असली—मूल रूप में कभी नाश नहीं होता।

ऑक्सिज़न और हाइड्रोज़न नामक दो प्रकार की हवा से पानी बनता है। पानी के न रहने पर आप समझते हैं कि पानी नष्ट हो गया, मगर वह नष्ट नहीं हुआ—दो हवाओं के रूप में ही बिखर गया है। इसी प्रकार दीपक के बुझ जाने पर प्रकाश का समूल नाश नहीं हुआ, किन्तु वह अँधेरे के रूप में परिणत हो गया।

शास्त्रकार कहते हैं कि अत्यन्ताभाव को नास्तित्व समझना चाहिए, जैसे गधे के सींग। जो नास्तित्व है वह अस्तित्व कभी नहीं होगा। असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती, यह बात गीता के उद्धरण से भी—बतलाई जा चुकी है। जब, जहाँ, जो भी वस्तु उत्पन्न होती है, शून्य से कभी नहीं होती। सत् से ही सत् का उत्पादन होता है।

अस्तित्व, अस्तित्व में और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, यह निर्णय हो जाने के पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! अस्तित्व अस्तित्व में और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, सो स्वभाव से परिणत होता है—या प्रयोग से? अर्थात् जीव के व्यापार से? इस प्रश्न का उत्तर भगवन् ने यह फ़र्माया है कि-दोनों प्रकार से परिणत होता है।

प्रयोग का अर्थ है व्यापार—जीव का व्यापार। जीव के व्यापार से भी अस्तित्व, अस्तित्व रूप में परिणत होता है। जैसे कुम्हार के व्यापार से मिट्टी के पिंड का घट रूप में परिणत होना। अथवा जैसे मनुष्य की क्रिया से सीधी उंगली का टेढ़ी हो जाना। यह अस्तित्व का अस्तित्व में परिणमन प्रयोग से हुआ। इसी प्रकार जीव के व्यापार के बिना भी अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है। जैसे सफेद बादलों का काला हो जाना। इस परिणमन में किसी जीव के व्यापार की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार नास्तित्व का नास्तित्व रूप में परिणमन भी प्रयोग से और स्वभाव से होता है। उंगली आदि का अंगूठा आदि रूप में न होना नास्तित्व कहलाता है। अर्थात् उंगली की अपेक्षा अंगूठे का अस्तित्व ही नास्तित्व है। यह अंगूठा रूप नास्तित्व उंगली आदि के नास्तित्व में—अंगूठा वगैरह के पर्यायान्तर अस्तित्व में परिणत होता है। उदाहरणार्थ-मिट्टी का नास्तित्व, तंतु आदि रूप है और वह पट में विद्यमान है।

इस कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि स्वभाव से या प्रयोग से नास्तित्व, अस्तित्व रूप में परिणत होता है और न यही आशय समझना चाहिए कि अमुक परिणमन स्वभाव से ही होता है और अमुक परिणमन प्रयोग से ही होता है।

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—भगवन् ! सामान्य रूप से तो पदार्थ जैसे हैं वैसे ही रहते हैं, लेकिन कभी अतिशयवान्—प्रवल-कारण मिल जाने से अन्यथा प्रकार के भी हो जाते हैं। जैसे-अतिशायी के प्रताप से अग्नि का शीतल होना और विष का अमृत हो जाना। तो क्या प्रत्येक अवस्था में अस्तित्व अस्तित्व रूप और नास्तित्व नास्तित्व रूप ही रहता है या सबल कारण मिल जाने पर अन्यथा परिणमन भी हो जाता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—गौतम ! ऐसा नहीं हो सकता। चाहे जितना प्रबल कारण क्यों न हो, मगर जैसे अस्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार नास्तित्व नास्तित्व रूप में परिणत होता है। और जैसे नास्तित्व नास्तित्व रूप में परिणत होता है उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत होता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न का आशय यह है कि अतिशय शक्तिसम्पन्न कारण के प्रभाव से विचित्र कार्य उत्पन्न होता है,

जैसे अग्नि में शीतलता का उत्पन्न हो जाना। अग्नि में शीतलता का अस्तित्व नहीं है, फिर भी वह शीतल हो गई और उसमें उष्णता का अस्तित्व नहीं रहा। ऐसा देखा जाता है। फिर भी क्या अस्तित्व अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है?

इस प्रश्न का जो उत्तर भगवान ने दिया, उसका आशय यह है कि पदार्थों में जो धर्म है वह उनमें सदा विद्यमान रहता है। प्रत्येक पदार्थ में अनन्त गुण हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि जिस पदार्थ में जो गुण प्रसिद्ध है, उसके सिवा कोई दूसरा गुण उसमें है ही नहीं। अगर ऐसा होता तो अग्नि कदापि शीतल न होती। उदाहरण के लिए, दीपक प्रकाशमय है। वह बुझ जाने पर अंधकार के रूप में परिणत हो गया। यह अस्तित्व का अस्तित्व रूप में परिणमन हुआ। यहाँ अस्तित्व, नास्तित्व में या नास्तित्व, अस्तित्व में परिणत नहीं हुआ है। जिस प्रकार दीपक का पलटा हुआ, उसी प्रकार आत्मशक्ति के द्वारा भी वस्तु में पलटा हो जाता है—जैसे अग्नि शीतल हो जाती है—लेकिन अस्तित्व का नास्तित्व और नास्तित्व का अस्तित्व कदापि नहीं बन सकता।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! ऐसा स्वभाव की अपेक्षा से है या प्रयोग की अपेक्षा से? इसके उत्तर में भगवान ने फ़र्माया—दोनों की अपेक्षा से अस्तित्व अस्तित्व में और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है ?

इस प्रश्न का आशय यह है कि पहले जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, वह केवल समझने के लिए ही है या प्ररूपणा के लिए भी है ?

गौतम स्वामी के प्रश्न का भगवन् ने उत्तर दिया—हाँ गौतम ! अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, यह गमनीय है। अर्थात् प्ररूपणा करने के लिए है । जो वस्तु जैसी है, उसका उसी प्रकार प्ररूपणा करना उचित ही है ।

श्रीगौतम स्वामी पूछते हैं—हे भगवन् ! आप अस्तित्व और नास्तित्व का जैसा स्वरूप देखते हैं, वैसा ही प्ररूपण करते हैं ?

यद्यपि गौतम स्वामी को भगवान के ज्ञान और निरूपण के संबंध में किसी प्रकार की शंका नहीं है, तथापि अन्य लोगों की शंका-निवारण के लिए उन्होंने ऐसा प्रश्न किया है ।

भगवान इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—गौतम ! [अ]स्तित्व और नास्तित्व का जैसा स्वरूप मैं देखता हूँ, वैसा ही प्ररूपणा भी करता हूँ । अस्तित्व देखता हूँ तो अस्तित्व में परिणमन बतलाता हूँ और नास्तित्व देखता हूँ तो नास्तित्व में परिणमन बतलाता हूँ । जैसा मैं देखता हूँ, उससे विरुद्ध नहीं प्ररूपणा करता ।

इस के अनन्तर गौतम स्वामी इसी प्रश्न को प्रकारान्तर से दोहराते हैं। वस्तु की प्ररूपणा के विषय में समभाव से—बिना किसी भेदभाव के-बतलाते हैं, यह जानने के लिए विषय का आधार लेकर प्रश्न करते हैं :

श्रीगौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन् ! आपके वचन सुनने से तृप्ति नहीं होती, तथा संसार का प्रतिनिधि बन कर मैं आपसे पूछता हूँ कि आप मेरे और दूसरे का भेद न रखकर यह सब समभाव से कहते हैं ? आत्मीयजनों पर राग और परायों पर द्वेष न रखकर स्वभाव से प्ररूपणा करते हैं ? आप परोपकार-बुद्धि से प्ररूपणा करते हैं या स्व-पर का भेद न करके प्ररूपणा करते हैं ? जैसे मुझसे मेरा शिष्य पूछे और मैं प्रेम से बतलाऊँ, उसी प्रकार आप भी मुझे प्रेम से बतलाते हैं। क्या पाखंडी और गृहस्थ को भी इसी प्रकार बतलाते हैं ?

यहाँ 'एत्थ' का अर्थ 'स्वशिष्य' है और 'इहं' का अर्थ है--गृहस्थ तथा पाखंडी आदि।

गौतम स्वामी के प्रश्न का आशय यह है कि जैसे मैं भक्तिपूर्वक आपसे पूछता हूँ और आप समभाव पूर्वक कह रहे हैं, उसी प्रकार क्या पाखण्डी से भी कहते हैं ? अथवा उसका मान भंग करने के लिए और प्रकार से भी कहते हैं ? अर्थात् सराग होने के कारण जैसे मैं अपने-पराये का भेद देखता हूँ,

वैसा भेद आप तो नहीं देखते ? संभवतः गौतम स्वामी का यह संकेत गोशालक और जामाली आदि की ओर है।

अथवा—'एत्थ' का अर्थ है-'स्वात्मा' यानी आप अपने स्वात्मा में सुख से जैसा देख रहे हैं, पर आत्मा में भी वैसा ही देखते हैं ? आप अपने आत्मा को जैसे सुख प्यारा देखते हैं वैसे ही दूसरे की आत्मा को भी देखते हैं ?

अथवा—'एत्थ' और 'इह' दोनों समानार्थक शब्द हैं और उनका अर्थ है-प्रत्यक्षाधिकरणता। जैसे 'एत्थ' यह 'एतत्' शब्द का रूप है उसी प्रकार 'इह' यह भी 'एतत्' शब्द का ही रूप है। अतः इन दोनों शब्दों का अर्थ समान ही समझना चाहिए। जो वस्तु प्रत्यक्ष हो, उसके लिए 'एतत्' शब्द का प्रयोग होता है। इसीलिए 'एत्थ' और 'इह' दो का अर्थ है—प्रत्यक्षगम्य।

# कांक्षामोहनीय के बंध आदि के कारण
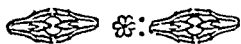
प्रश्न—जीवा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! बंधंति ।

प्रश्न—कह णं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति ?

उत्तर—गोयमा ! पमादपच्चया, जोगनिमित्तं च ।

प्रश्न—से णं भंते ! पमाए किंपवहे ?

उत्तर—गोयमा ! जोगप्पवहे ।

प्रश्न—से णं भंते ! जोए किंपवहे ?

उत्तर—गोयमा ! वीरियप्पवहे ।

प्रश्न—से णं भंते ! वीरिए किंपवहे ?

उत्तर—गोयमा ! सरीरप्पवहे ।

प्रश्न—से णं भंते ! सरीरे किंपवहे ?

उत्तर—गोयमा ! जीवप्पवहे । एवं सति अत्थि उट्ठाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार परिक्कमेइ वा ?

संस्कृत-छाया

*प्रश्न—जीवा भगवन् ! काङ्क्षामोहनीय कर्म बंधन्ति ?*

*उत्तर—हन्त, गौतम ! बंधन्ति ।*

*प्रश्न—कथं भगवन् ! जीवा काङ्क्षामोहनीय कर्म बंधन्ति ?*

*उत्तर—गौतम ! प्रमादप्रत्ययात्, योगनिमित्तं च ।*

*प्रश्न—तत् भगवन् ! प्रमाद किंप्रवहः ?*

*उत्तर—गौतम ! योगप्रवहः ।*

*प्रश्न—तद् भगवन् ! योगः किंप्रवहः ।*

*उत्तर—गौतम ! वीर्यप्रवहः ।*

*प्रश्न—तद् भगवन् ! वीर्य किंप्रवहम् ?*

उत्तर—गौतम ! शरीरप्रवहम् ।

प्रश्न—तद् भगवन् ! शरीर किंप्रवहम् ?

उत्तर—गौतम ! जीवप्रवहम् । एवं सति अस्ति उत्थानमिति वा, कर्मेति वा, बलमिति वा, वीर्यमिति वा, पुरुषकार पराक्रम इति वा ।

## शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म बाँधते हैं ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, बाँधते हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार बाँधते हैं ?

उत्तर—गौतम ! प्रमाद के कारण और योग के निमित्त से ।

प्रश्न—भगवन् ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! प्रमाद, योग से उत्पन्न होता है ।

प्रश्न—भगवन् ! योग किससे उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! योग, वीर्य से उत्पन्न होता है ।

प्रश्न—भगवन् ! वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! वीर्य, शरीर से उत्पन्न होता है।

प्रश्न—भगवन् ! शरीर किससे उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! शरीर, जीव से उत्पन्न होता है। और ऐसा होने से उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम है।

## व्याख्यान

कांक्षामोहनीय कर्म के बंध के विषय में प्रश्नोत्तर हो चुके पर जब बंध होता है तो बंध के कारण भी होने चाहिए। बिना निमित्त के ही अगर कर्म बंधने लगे तो अव्यवस्था हो जाय। फिर तो सिद्ध जीवों को भी कर्मबंध होने लगेगा और उन्हें संसार में आना पड़ेगा। लेकिन ऐसा नहीं होता। बिना कारण के कर्म का बंध नहीं होता। अतः कारण जानने के लिए गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म बाँधता है तो किस कारण से बाँधता है ? अर्थात् कांक्षामोहनीय कर्म के बंध का कारण क्या है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं—हे गौतम ! जीव प्रमाद रूप हेतु से और योग रूप निमित्त से कांक्षामोहनीय कर्म बांधता है।

प्रमाद में मिथ्यात्व, अविरति और कषाय का अन्तर्भाव हो जाता है। जब तक यह कारण विद्यमान है तब तक कर्म

का बंध होता ही है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि सातवें गुणस्थान में और उसके आगे के गुणस्थानों में प्रमाद नहीं होता, परन्तु कषाय दसवें गुणस्थान तक रहता है। ऐसी हालत में कषाय, प्रमाद के अन्तर्गत किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि जहां तक कषाय है, वहाँ तक प्रायः मोहनीय कर्म का बंध होता ही है। यद्यपि दसवें गुणस्थान में भी छह कर्म का बंध होता है, वहाँ मोह का बंध नहीं कहा गया है, मगर दसवें गुणस्थान की स्थिति अत्यल्प होने से उसकी गणना यहाँ नहीं की गई है। इसीलिए जबतक कषाय है तब तक मोह कर्म का बंध है। लेकिन दसवें गुणस्थान में बंध सूक्ष्म है। तात्पर्य यह है कि स्थूल प्रमाद छठे गुणस्थान से आगे नहीं रहता, मगर सूक्ष्म प्रमाद दसवें गुणस्थान तक विद्यमान रहता है। अतएव कषाय, प्रमाद के अन्तर्गत है।

मिथ्यात्व, अविरति और कषाय बंध के कारण हैं और प्रमाद में इन तीनों का समावेश हो जाता है। शास्त्रकारों ने प्रमाद के आठ भेद बतलाये हैं—

*पमाओ य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ।*
*अण्णाणं संसओ चेव मिच्छानाणं तहेव य ॥*
*रागदोसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणायरो।*
*जोगा णं दुप्पणिहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥*

अर्थात्—अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग-द्वेष, मतिभ्रंश, धर्म में अनादर बुद्धि, योग और दुर्ध्यान यह प्रमाद के आठ भेद हैं। इन्हें त्याग देना चाहिए।

अज्ञानवान् आत्मा धर्म से पतित हो जाता है। इसी प्रकार संशय करने वाला आत्मा भी धर्म से गिर जाता है।

यहाँ यह तर्क किया जा सकता है कि अगर संशय प्रमाद है और संशय का त्याग करना चाहिए तो गौतम स्वामी भी संशय के कारण प्रमादी और धर्म से च्युत होने चाहिए! प्रश्न के प्रारंभ में उनके लिए 'जायसंसए' विशेष प्रयुक्त हुआ है। अगर गौतम स्वामी का संशय ऐसा नहीं था तो फिर यहाँ संशय को त्याज्य क्यों बतलाया गया है ?

इस तर्क का समाधान यह है कि संशय दो प्रकार का होता है-(१) वस्तुनिर्णयात्मक और (२) अविश्वास रूप। इन में वस्तुनिर्णयात्मक संशय ज्ञान है, प्रमाद नहीं। अविश्वास रूप संशय मिथ्यात्व का जनक है। उदाहरणार्थ अंधकार में एक स्तम्भ देखा। उसे देखकर यह स्तम्भ है या पुरुष है, इस बात के निर्णय के लिए जो संशय होता है, वह ईहाज्ञान का एक भेद है। लेकिन संशय में ही पड़ा रहना, निर्णय न करना और अविश्वास को ही पकड़ बैठना उचित नहीं है। इससे आत्मा का नाश होता है।

न संशय मनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।

अर्थात्—संशय किये बिना किसी भी आत्मा को कल्याण प्राप्ति नहीं होती। जो मनुष्य संशय करके उसका निर्णय करता है, उसी का कल्याण होता है।

केवल संशय में पड़े रहना अपने आपको सब प्रकार की विपत्तियों में डालना है। केवल संशय में पड़े रहने से लोक व्यवहार भी नहीं चल सकता, कल्पना कीजिए, एक साहूकार ने अपनी कन्या का विवाह किया। विवाह के बाद ही कन्या का देहान्त हो गया। जब उस साहूकार की दूसरी कन्या विवाह के योग्य हुई तब वह कहने लगा—अब मैं इस कन्या का विवाह नहीं करूँगा। क्योंकि मेरी पहली कन्या विवाह होते ही मर गई थी। लोग उसे समझाते हैं कि दुनियाँ में कन्याएँ व्याही जाती हैं। व्याहने से कोई कन्या नहीं मरती। मगर वह साहूकार नहीं मानता। अब आप बतलाइए इस संशय का क्या इलाज है! ऐसे संशय के चक्कर में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी सम्पूर्ण निर्णायक शक्ति खो बैठता है। इसमें उचित-अनुचित का विवेक नहीं रह जाता। इस प्रकार केवल संशय से लोक व्यवहार भी रुक जाता है। यही बात धर्म के लिए कही जा सकती है। संशय ही संशय में पड़े रहना, उसका निर्णय न करना, धर्म और लोक व्यवहार दोनों को ही डुबोने वाला है, अतएव श्रद्धापूर्वक किया जाने वाला संशय हानिकर नहीं प्रत्युत लाभप्रद है, जब कि अश्रद्धापूर्वक किया जाने वाला संशय घोर अनर्थ का कारण है। गौतम स्वामी का संशय श्रद्धापूर्ण था, अश्रद्धामय नहीं।

कोई मनुष्य धर्म की बात कहता है किन्तु सुनने वाले को अगर प्रसन्नता नहीं होती तो समझना चाहिए कि उसे धर्म के प्रति रुचि नहीं है। धर्म के प्रति आदर बुद्धि न रखना धर्म का अनादर है। धर्म का कोई विशेष कार्य अपने से न हो सके, यह बात दूसरी है, लेकिन उसके प्रति आदरभाव तो होना ही चाहिए। भक्त तुकाराम ने एक जगह कहा है:--

*उपदेश भलत्या हातीं, जाल चितीं धरावा ॥ १ ॥*
*नथेजाउपात्रावरीं, कवटी सारी नारले ॥ २ ॥*
*स्त्री पुत्र वंदीजन, नारायण स्मरविती ॥ ३ ॥*
*तुकाम्हणे रत्नसार, पर उपकार चिंधींच ॥ ४ ॥*

अर्थात्--धर्म की बात कोई साधारण आदमी कहे तो भी उसे आदरपूर्वक सुनना चाहिए। जैसे नारियल ऊपर से कठोर होता है, लेकिन भीतर से नरम होने के कारण उसे सब लोग ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार कोई नीच व्यक्ति भी अगर अच्छी बात कहता हो तो उसे अग्रह्य नहीं समझना चाहिए। एक कवि ने कहा है:--

*उत्तम विद्या लीजिए, यद्यपि नीच पै होय।*
*पर्यो अपावन ठौर में, कंचन तजै न कोय॥*

भले ही पुरुष नीच गिना जाता हो, पर यदि उसके पास उत्तम ज्ञान है तो उसे ग्रहण करना ही चाहिए। अपवित्र स्थान में पड़े हुए सोने को कौन छोड़ता है?

अतएव धर्म की बात कहने वाला, चाहे उसका अधिकारी या अनाधिकारी हो, अगर उसकी बात हितावह है तो उसे कृतज्ञापूर्वक स्वीकार करना चाहिए। पुरुष को देखकर धर्म का अनादर नहीं करना चाहिए। कोई कसाई भी अहिंसा का उपदेश दे तो उसे मानना चाहिए।

सूयगडांग सूत्र में कहा है--अगर तू चक्रवर्ती भी रहा हो, और तेरे घर की दासी की दासी भी तुझे गिरते देखकर समझाए, तो उसकी बात को ऐसे प्रेम से सुने, जैसे वह बड़ी उपकारिणी है। जंगल में मार्ग बतलाने वाली भीलनी की बात मानी जाती है, इसी प्रकार घर की दासी भी अगर कोई अच्छी बात बतलाती है, तो उसे स्वीकार करना चाहिए।

मन, वचन और काम का असावधानी में वर्त्तना--अशुभ रूप में प्रवृत्त होना भी प्रमाद कहलाता है।

प्रमाद के अन्य भेद सरलता से समझे जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रमाद--गफलत को छोड़कर सावधान बनना चाहिये।

प्रकृत विषय यह है कि प्रमाद के कारण और योग के निमित्त से कांक्षामोहनीय कर्म का बंध होता है। प्रमाद का निरूपण किया जा चुका है। मन, वचन और शरीर के व्यापार को योग कहते हैं।

स्पष्ट यह है कि कर्म बंध के पाँच कारण हैं--( १ ) मिथ्यात्व ( २ ) अविरति ( ३ ) प्रमाद ( ४ ) कषाय ( ५ ) योग। यहां प्रमाद का उल्लेख करके मिथ्यात्व, अविरति और कषाय

को उसी के अन्तर्गत कर दिया गया है। और योग का पृथक् उल्लेख है ही। इसी प्रकार बंध के कारणों की संख्या में किसी प्रकार की असंगति नहीं है।

अगर प्रमाद कर्म बंध का कारण है तो प्रमाद कहां से आता है? प्रमाद का कारण क्या है? यह जानने के लिए गौतम स्वामी ने फिर प्रश्न किया है कि--भगवन् ! प्रमाद की उत्पत्ति का कारण क्या है? यहां मूल पाठ में 'किंपवहो' पद आया है। उसके स्थान पर कहीं-कहीं 'किंपमवो' पाठ भी आता है। मगर दोनों का अर्थ एक ही है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवन् फर्माते हैं--हे गौतम ! प्रमाद की उत्पत्ति योग से अर्थात् मन, वचन और काय के व्यापार से होती है।

मद आदि आठ दोषों के सेवन से अथवा मिथ्यात्व आदि के सेवन से जो प्रमाद होता है, वह सब मन, वचन और काय के व्यापार से होता है। अतएव प्रमाद की उत्पत्ति मन, वचन और काय के व्यापार से कही गई है।

फिर कारण--परम्परा को समझने के लिए गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन् ! योग किससे उत्पन्न होता है? उत्तर में भगवन् फर्माते हैं--गौतम ! योग, वीर्य से उत्पन्न होता है।

अन्तरायकर्म के पाँच भेदों में एक वीर्यान्तराय कर्म भी है। इस वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे वीर्य कहते हैं। आत्मा का स्वतंत्र पराक्रम वीर्य कहलाता है।

किन्हीं-किन्हीं का कथन है कि क्षयोपशमिक भाव से एकान्त सद्गुण ही होता है, मगर यह कथन भ्रमपूर्ण है। क्षयोपशम से बाल वीर्य भी उत्पन्न होता है और पंडित वीर्य भी उत्पन्न होता है। बालवीर्य सद्गुण नहीं है, अतएव उनका कथन भी समीचीन नहीं है।

वीर्य ज्ञान में भी लगता है और अज्ञान में भी लगता है। अर्थात् सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान-दोनों के लिए वीर्य की आवश्यकता है। किसी को मारना हो तब भी वीर्य की आवश्यकता है और किसी की रक्षा करने में भी वीर्य की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि क्षयोपशमिक भाव एकान्ततः आज्ञा में ही है।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन्! वीर्य किससे उत्पन्न होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं-गौतम! वीर्य की उत्पत्ति शरीर से होती है। बिना शरीर के वीर्य उत्पन्न नहीं हो सकता।

यहां पर शंका की जा सकती है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से वीर्य उत्पन्न होता है और सिद्ध इस कर्म का क्षय कर चुके हैं। ऐसी दशा में सिद्धों को सवीर्य कहना चाहिए या निर्वीर्य?

इस शंका का समाधान यह है कि—वीर्य के दो भेद हैं—सकरण वीर्य और अकरण वीर्य। सिद्ध या केवली भगवान

जानने योग्य सम्पूर्ण पदार्थों को केवल ज्ञान और केवल दर्शन
से जानते और देखते हैं। वीर्य के अभाव में ज्ञान और दर्शन
नहीं हो सकते। यद्यपि केवली जानते हैं ज्ञान से ही और
देखते हैं दर्शन से ही, तथापि वीर्य के अभाव में नहीं। सिद्धों में
और केवलियों में; जो कि लेश्या से रहित—अलेश्य हैं, जो
वीर्य विद्यमान है वह अकरण वीर्य कहलाता है। यहाँ इस
अकरण वीर्य का प्रकरण नहीं है। यहाँ सकरण वीर्य से
तात्पर्य है। सकरण वीर्य का स्वरूप यह है—लेश्या वाले जीव
का मन, वचन, काय रूप साधन वाले आत्मप्रदेशों के परिस्पंदा
त्मक व्यापार को सकरण वीर्य कहते हैं। करण का अर्थ
साधन है। जिसका साधन मन, वचन और काय का व्यापार
है, उसे सकरण वीर्य समझना चाहिए। यह वीर्य शरीर से
उत्पन्न होता है, बिना शरीर के नहीं हो सकता।

मतलब यह है कि वीर्य, सिद्धों में और अयोग केवलियों
में भी है, लेकिन वह अकरण वीर्य है। अगर उनमें वीर्य न
होता तो वह जानते और देखते कैसे? तथा चौदहवें गुणस्थान
वाले अयोग केवली सिद्ध कैसे होते? सिद्धों के वीर्य में
चंचलता नहीं है। वह वीर्य, केवल जीव का ही परिणाम है।

शरीर से जो उत्पन्न होता है, उसमें इस अकरण वीर्य का
समावेश नहीं है। शरीर से उत्पन्न वीर्य, योग के वर्णन के
लिए है और सिद्धों में योग नहीं है। अतएव अकरण वीर्य को योग
की उत्पत्ति वाले वीर्य में नहीं समझना चाहिए।

सकरण वीर्य, मन, वचन और काय के व्यापार से होता होता है। पहले गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक के जीव का, आत्मप्रदेशों से चलायमान होना जीव व्यापार कहलाता है। इस व्यापार को सकरण वीर्य कहते हैं। सकरण वीर्य, मन, वचन, काय रूप साधन के बिना नहीं होता और बिना इस वीर्य के योग की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए योग को उत्पन्न करने वाले वीर्य की उत्पत्ति शरीर से है।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवान! शरीर किससे पैदा होता है? इसके उत्तर में भगवान ने कहा—गौतम! शरीर जीव से उत्पन्न होता है।

शरीर की एक ज़रा-सी बिगड़ी हुई आँख को सुधार देने वाले की प्रशंसा की जाती है, तो हे चिदानन्द! तू अपनी रचना पर विचार कर कि तूने यह शरीर किस प्रकार बना लिया है।

यूरोप में मनुष्य के शरीर के एक एक अंग के निष्णात बहुत से डाक्टर हैं। जो आँख का काम करता है, वह आँख का ही करता है, दाँत का डाक्टर दाँत का ही इलाज़ करता है। यद्यपि वे डाक्टर एक एक अंग पर ही अपनी सारी आयु समाप्त कर देते हैं, फिर भी शरीर का कोई अंग नया नहीं बना सकते। इस जीव ने जो शरीर बनाया है वह अनुपम है। कान कान में भी छिद्र है और नाक में भी छिद्र है। छिद्र दोनों में समान हैं, लेकिन सुनने का काम कान का ही छिद्र करता है

और सूंघने का काम नाक का छिद्र ही करता है। मांस जीभ में भी है और हथेली में भी। मगर खट्टा-मीठा चखने का काम जीभ ही करती है हथेली नहीं। जिस शरीर की बनावट का अन्त आज तक किसी को नहीं मिला है, ऐसा शरीर इस जीव ने बनाया है। फिर भी लोग इस चैतन्यविज्ञान को भूल कर जड़ विज्ञान के पीछे पागल बन रहे हैं।

शरीर की एक ज़रा सी आँख का इलाज़ करने वाला डाक्टर विद्वान् कहलाता है तो जिस आत्मा ने यह सम्पूर्ण शरीर बनाया है, उस देह के अधिष्ठाता आत्मा को ईश्वर क्यों न माना जाए? आत्मा जब सकर्म अवस्था में है—कर्म के कारण इसकी अनेक शक्तियाँ कुंठित हो रही हैं, तब भी वह ऐसा कर सकता है। जब इसकी तमाम शक्तियाँ उद्भासित हो जाएँगी, तब का क्या कहना है।

ईश्वर कर्ता है और तुम्हीं ईश्वर हो। सकर्म ईश्वर (आत्मा) शरीर का कर्त्ता है और अकर्म ईश्वर (परमात्मा) शरीर का कर्त्ता नहीं है।

यहाँ एक आशंका की जा सकती है कि शरीर कर्म से-नाम कर्म से बनता है, ऐसा सुना जाता है। फिर यहाँ जीव से शरीर की उत्पत्ति क्यों कही गई है?

इसका उत्तर यह है कि शरीर बनने का कारण कर्म भी है। केवल जीव ने शरीर नहीं बनाया है। अगर केवल जीव ही

शरीर बनाने में कारण होता तो सिद्धों को भी शरीर बनाने में कारण मानना पड़ता, क्योंकि सिद्ध भी जीव हैं। अतएव कर्म भी शरीर-निर्माण में कारण है। ऐसी स्थिति में जीव को शरीर का कारण कहने पर भी कर्म का निषेध नहीं समझना चाहिए।

अब यहाँ गोशालक के मत का प्रसंग आता है। जीव से शरीर बना है, लेकिन होनहार (नियति) से बना है या पराक्रम से; यह प्रश्न उपस्थित होता है। गोशालक के होनहार वाद का निषेध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि यहाँ कार्य कारण की शृंखला बन गई है। कांक्षामोहनीय कर्म प्रमाद से; प्रमाद योग से; योग वीर्य से; वीर्य, शरीर से और शरीर जीव से उत्पन्न होता है। अतएव गोशालक के इस कथन का कि जीव कर्त्ता नहीं है निषेध हो जाता है।

हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि जीव में बल, पराक्रम आदि हैं या नहीं? अगर हैं तो वह किस काम आते हैं? जब उनका अस्तित्व है तो कहीं उनका उपयोग होता ही होगा। उनका उपयोग होना ही जीव का कर्तृत्व है। अतएव जीव कर्त्ता है।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह था कि शरीर किससे पैदा होता है? इसके उत्तर में भगवान ने कहा—शरीर जीव से उत्पन्न होता है। जब शरीर जीव से उत्पन्न होता है तो जीव में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम भी है।

गोशालक का मत यह है कि जीव के पुरुषार्थ करने से कुछ नहीं होता। जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है। नियतिवादी अपने पक्ष की पुष्टि के लिए कहते हैं:—

*उदयति यदि भानुः पश्चिमायांदिशायां,*
*प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः।*
*विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां,*
*तदपिन चलतीयं भाविनी कर्मरेखा ॥१॥*

अर्थात्—होनहार के प्रभाव से शुभ या अशुभ जो पदार्थ मनुष्य को मिलना होता है, वह अवश्य मिल जाता है। जीव चाहे जितना प्रयत्न करे, हाथ-पैर पछाड़े, मगर जो होनहार नहीं है वह होता नहीं, और जो होनहार है वह टलता नहीं। इसलिए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं।

नियतिवादी इस प्रकार की बातें कहता है लेकिन उन्हें मान लिया जाय तो प्रत्यक्ष सिद्ध पुरुषार्थ की अवहेलना होती है। इस पुरुषार्थ की सिद्धि प्रत्यक्ष से देखते हैं। फिर इसे कैसे छोड़ा जाय और होनहार के भरोसे निठल्ले कैसे बैठे रहें?

सूर्य हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। कोई कैसे भी प्रमाण देवे, कैसी भी काव्यरचना करके या कसम खा करके यह सिद्ध करना चाहे कि सूर्य नहीं है, तब भी हम सब अपने प्रत्यक्ष

को कैसे छोड़ें ? और अप्रत्यक्ष को कैसे मानें ? इसी प्रकार नियतिवादी कैसे भी प्रमाण क्यों न उपस्थित करें, लेकिन जो बात सर्व साधारण के अभ्रान्त प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, उसे कैसे स्वीकार किया जाय ? उसकी तमाम दलीलें प्रत्यक्ष से ही खंडित हो जाती हैं।

जीव में उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम विद्यमान हैं। अगर जीव कुछ नहीं करता है तो उत्थान आदि किस काम में आते हैं ? जो प्रकाश नहीं करता, उसे सूर्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार बिना कुछ किये बल, वीर्य आदि कैसे कहे जा सकते हैं ? जीव में जब बल, वीर्य आदि मौजूद हैं तो फिर उसी को कर्त्ता क्यों न माना जाय ?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है, यानी होना होने में परिणमता है, लेकिन पुरुषार्थ बेकार नहीं है। पुरुषार्थ से ही होना होने में परिणत होता है। उदाहरणार्थ-लब्धिधारी महात्मा काँच को बोलवाते हैं सो होनी हुई या अनहोनी हुई ? हम कहते हैं, यह होनी हुई। अलबत्ता साधारण आदमी के लिए यह अनहोनी है, लेकिन लब्धिधारी के लिए तो होनी ही है। अगर लब्धिधारी के के लिए भी होनी नहीं है तो फिर सभी लोग काँच को क्यों नहीं बोलवा लेते ? इस प्रकार होता वही है जो होना होता है, मगर होता है पुरुषार्थ से।

इसके सिवा यह होना है या नहीं होना है यह बात पुरुषार्थ करने पर ही ज्ञात होती है, बिना पुरुषार्थ के ज्ञात नहीं हो सकती। इससे यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थ का नंबर पहला है। होनी और अनहोनी का पता पुरुषार्थ के पश्चात ही चल सकता है। इसलिए होनहार के भरोसे कोई बैठा नहीं रहता सभी पुरुषार्थ करते हैं। अतएव पुरुषार्थ को छोड़ कर होनहार के भरोसे बैठे रहना अकर्मण्यता है।

आप लोग भगवान के पीछे चलने वाले हैं। इसलिए आपको पुरुषार्थ नहीं छोड़ना चाहिए। होना होगा सो होगा और न होना होगा सो न होगा इस प्रकार सोच कर पुरुषार्थहीन बन कर मत बैठो।

*कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।*

कार्य करने का अधिकार तुम्हें है, फल का विचार करने का नहीं इसलिए पुरुषार्थ की ओर से निराश न होओ, परन्तु कर्म-नाश के लिए निरन्तर पुरुषार्थ करते रहो। होनहार पर निर्भर रहने वाले कायर हो जाते हैं। एक नीतिकार ने कहा है—

*आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।*

अर्थात्—आलस्य ही प्रधान शत्रु है। यह अपने में ही रहता है। वैरी तो कभी ही मारता है, पर यह प्रमाद पद-पद पर प्रहार करता रहता है।

अब यह देखना चाहिए कि उत्थान, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम किसे कहते हैं।

ऊर्ध्व होने, खड़े होने या ऊपर उठने का नाम उत्थान है। जीव की चेष्टा विशेष को कर्म कहते हैं। शारीरिक प्राण बल कहलाता है। जीव के उत्साह को वीर्य कहते हैं। पुरुष का स्वाभिमान पुरुषकार कहलाता है और इष्ट फल का साधक पुरुषकार और शत्रु नष्ट करना पराक्रम है।

यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि क्या स्त्रियाँ क्रिया नहीं करती हैं? अगर करती हैं तो 'पुरुषकार' के साथ 'स्त्रीकार' क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर यह है कि स्वभावतः स्त्रियों की क्रिया की अपेक्षा पुरुषों की क्रिया विशेष होती है। और विशेष को लक्ष्य कर के ही बात कही जाती है। इस लिए यहाँ 'पुरुषकार' कहा है। उपलक्षण से स्त्री का उद्योग भी पुरुषार्थ ही समझना चाहिये।

पुरुषकार यानी पुरुष की क्रिया और पराक्रम यानी शत्रु का पराजय। यह दोनों कार्य स्त्री और नपुंसक की अपेक्षा पुरुष अधिक करता है। पुरुष की क्रिया और शत्रु का पराजय यह दोनों मिलकर 'पुरुषकार-पराक्रम' कहलाते हैं।
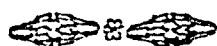
# कांक्षा मोहनीय की उदीरणा आदि
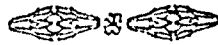
प्रश्न—से णूणं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरइ ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! अप्पणा चेव, तं चेव उच्चारेअव्वं ।

प्रश्न—जं तं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरेइ, तं किं उदिराणं उदीरेइ, अणुदिराणं उदीरेइ, अणुदिराणं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ, उदयाणांतर पच्छा कडं कम्मं उदीरेइ ?

उत्तर—गोयमा ! नो उदिएणं उदीरेइ, नो अणुदिएणं उदीरेइ, अणुदिएणं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ, णो उदयाणंतर पच्छा कडं कम्मं उदीरेइ ।

प्रश्न—जं तं भंते ! अणुदिएणं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ तं किं उट्ठाणेणं, कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार परक्कमेणं अणुदिएणं, उदीरणा-भवियं कम्मं उदीरेइ ? उदाहु तं अणुट्ठाणेणं, अक-म्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कार-परिक्कमेणं अणुदिएणं उदीरणाभविय कम्मं उदीरेइ ?

उत्तर—गोयमा ! तं उट्ठाणेण वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि, पुरिसक्कार परक्कमेण वि, अणुदिएणं उदीरियाभवियं कम्मं उदीरेइ । णो तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कार परक्कमेणं अणुदिएणं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ । एवं सती अत्थि उट्ठाणेइ वा,

कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार परिक्कमेइ वा।

प्रश्न—से णूणं भंते ! अप्पणा चेव उवसामेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरेइ ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! एत्थ वि तहेव भाणियव्वं। नवरं-अणुदिएणं उवसामेइ, सेसा पडिसेहेयव्वा तिण्णि।

प्रश्न—जं तं भंते ! अणुदिएणं उवसामेइ तं किं उट्ठाणेणं ?

उत्तर—जाव पुरिसक्कार परिक्कमेति वा।

प्रश्न—से णूणं भंते ! अप्पणा चेव वेदेइ, अप्पणा चेव गरहइ ?

उत्तर—एत्थ वि सव्वे वि परिवाडी, नवरं उदिएणं वेएइ, णो अणुदिएणं वेएइ; एवं जाव पुरिसक्कार परिक्कमेइ वा।

प्रश्न—से णूणं भंते ! अप्पणा चेव निज्जरेति, अप्पणा चेव गरहइ ?

उत्तर—एत्थ वि सव्वे वि परिवाडी, नवरं-उदयाणंतर पच्छाकडं कम्मं निज्जरेइ एवं जाव परिक्कमेइ वा।

संस्कृत-छाया

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! आत्मना चैव उदीरयति, आत्मना चैव गर्हति, आत्मना चैव संवृणोति ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! आत्मना चैव तच्चैव उच्चारयितव्यम्।

प्रश्न—यत् तद् भगवन् ! आत्मना चैव उदीरयति, आत्मना चैव गर्हति, आत्मना चैव संवृणोति, तत् किमुदीर्णम् उदीरयति, अनुदीर्णम् उदीरयति, उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति, उदयानन्तर पश्चात्कृतं कर्म उदीरयति ?

उत्तर—गौतम ! नो उदीर्णम् उदीरयति, नो अनुदीर्णम् उदीरयति, अनुदीर्णम् उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति नो उदयानन्तर पश्चात्कृतं कर्म उदीरयति।

प्रश्न—यत् तद् भगवन् ! अनुदीर्णम्-उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति तत् किमुत्थानेन, कर्मणा, बलेन, वीर्येण, पुरुषकार पराक्रमेण अनुदीर्णम् उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति ? उताहो तद् अनुत्थानेन अकर्मणा, अबलेन, अवीर्येण, अपुरुषकार पराक्रमेण अनुदीर्णम्-उदीर्णाभव्यं कर्म उदीरयति ?

उत्तर—गौतम ! तद् उत्थानेनापि, कर्मणाऽपि, बलेनापि, वीर्येणापि, पुरुषकार-पराक्रमेणापि अनुदीर्णम्-उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति । नो तद् अनुत्थानेन, अकर्मणा, अबलेन, अवीर्येण, अपुरुषकार पराक्रमेण अनुदीर्णम्-उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति । एवं सति अस्ति उत्थानमिति वा, कर्मेति वा बलमिति वा, वीर्य-मिति वा, पुरुषकारपराक्रमइति वा ।

प्रश्न— तद् नूनं भगवन् ! आत्मना चैव उपशमयति, आत्मना चैव गर्हते, आत्मना चैव संवृणोति ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! अत्रापि तथैव भणितव्यम् । नवरं-अनुदीर्णम् उपशमयति, शेषा प्रतिषेधयितव्यास्त्रयः ।

प्रश्न— यत् तद् भगवन् ! अनुदीर्णम् उपशमयति तत् किम् उत्थानेन ?

उत्तर—यावत् पुरुषकार पराक्रम इति वा।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! आत्मना चैव वेदयति, आत्मना चैव गर्हते ?

उत्तर—अत्रापि सर्वाऽपि परिपाटी; नवरम्-उदीर्णं वेदयति, एवं यावत् पुरुषकार पराक्रम इति वा।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! आत्मनैव निर्जरयति, आत्मनैव गर्हते ?

उत्तर—अत्रापि सर्वाऽपि परिपाटी। नवरम्-उदयान्तर पश्चात्कृत कर्म निर्जरयति, एवं यावत्-पराक्रम इति वा।

## शब्दार्थ

प्रश्न—हे भगवन् ! क्या जीव आपसे ही उसे (कांक्षामोह को) उदीरता है ? अपने आपसे ही उसकी गर्हा करता है ? और अपने आप से ही उसका संवर करता है ?

उत्तर—हाँ, गौतम ! अपने आप से ही करता है—पहले के समान ही पाठ कहना चाहिए।

प्रश्न—भगवन् ! वह जो अपने आपसे ही उदीरणा करता है, गर्हा करता है और संवर करता है, सो क्या उदीर्ण (उदय में आये हुए) की उदीरणा करता है ? अनुदीर्ण की उदीरणा करता है ? अनुदीर्ण-उदीरणा के योग्य की उदीरणा करता है ? या उदय के अनंतर पश्चात्कृत कर्म की उदीरणा करता है ?

उत्तर—गौतम ! उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता, अनुदीर्ण की भी उदीरणा नहीं करता तथा उदय के अनंतर पश्चात्कृत की भी उदीरणा नहीं करता, किन्तु अनुदीर्ण-उदीरणा के योग्य की उदीरणा करता है।

प्रश्न—भगवन् ! जो अनुदीर्ण-उदीरणा योग्य की उदीरणा करता है, सो क्या उत्थान से, कर्म से, बल से, वीर्य से और पुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा करता है या अनुत्थान से, अकर्म से, अबलसे, अवीर्य से और अपुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा करता है ?

उत्तर—गौतम ! अनुदीर्ण-उदीरणा योग्य कर्म की उत्थान से, कर्म से, बल से, वीर्य से और पुरुषकार-

पराक्रम से उदीरणा नहीं करता है। अनुत्थान से, अकर्म से, अबल से, अवीर्य से और अपुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा नहीं करता। ऐसा होने से उत्थान है, कर्म है, बल है, वीर्य है, पुरुषकार-पराक्रम है।

प्रश्न—भगवन्! वह अपने आपसे ही उपशम, गर्हा और संवर करता है?

उत्तर—हाँ गौतम! यहाँ भी उसी प्रकार 'पूर्ववत्' कहना चाहिए। विशेषता यह है कि अनुदीर्ण का उपशम करता है। शेष तीनों विकल्पों का निषेध करना चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! जीव अनुदीर्ण का उपशम करता है सो क्या उत्थान से, यावत् पुरुषकार पराक्रम से? या अनुत्थान से यावत् अपुरुषकार पराक्रम से?

उत्तर—गौतम! पूर्ववत् जानना—यावत् पुरुषकार पराक्रम से।

प्रश्न—भगवन्! जीव अपने आपसे ही वेदन और गर्हा करता है?

उत्तर—गौतम ! यहाँ भी पूर्वोक्त समस्त परिपाटी समझनी चाहिए। विशेषता यह है-उदीर्ण को वेदता है, अनुदीर्ण को नहीं वेदता है। तथा इस प्रकार यावत् पुरुषकार पराक्रम है।

प्रश्न—भगवन् ! जीव अपने आपसे ही निर्जरा करता है, गर्हा करता है ?

उत्तर—गौतम ! यहाँ भी समस्त परिपाटी पूर्ववत् समझनी चाहिए। इस प्रकार यावत् पुरुषकार पराक्रम है।

## व्याख्यान

यहाँ गौतम स्वामी ने कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा, गर्हा, और संवर के विषय में प्रश्न किया है। वे पूछते हैं—भगवन् ! क्या जीव कांक्षामोहनीय को आप ही उदीरता है ? आप ही गर्हता है ? और आप ही संवरता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फ़रमाया—हाँ, गौतम ! जीव आप ही उदीरणा आदि करता है।

उदीरणा आदि का एक मात्र जीव ही कारण नहीं है, किन्तु काल आदि सामग्री भी कारण है। उसका वर्णन आगे किया जायगा। इसलिए प्रश्न में काल आदि सामग्री का

उल्लेख न करके केवल जीव का ही कथन किया गया है। इसीकारण भगवान ने भी उत्तर में जीव का ही कथन किया है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि जीव उदीरणा करता है काल आदि अन्य की सहायता से, फिर उनका नाम न लेकर केवल जीव का ही नाम क्यों लिया गया है ? उनका नाम क्यों नहीं लिया गया ? इस आशंका का समाधान यह है कि घड़ा कुंभार ही नहीं बनाता है, किन्तु उसके बनने में पानी, डंडा, चाक, और काल आदि की सहायता भी अपेक्षित होती है। ऐसी हालत में घड़ा बनाने में कुंभार का ही नाम क्यों लिया जाता है ? अन्य सहायकों का नाम क्यों नहीं लिया जाता ? मिट्टी गधे पर लाद कर लाई जाती है, फिर गधा भी घट का कर्त्ता क्यों नहीं कहलाता ? इसका कारण यही है कि चाक आदि घड़ा बनने में सहायक तो हैं, लेकिन मुख्य कर्त्ता कुंभार ही है। इसलिए सब को घड़े का कर्त्ता न मान करके केवल कुंभार को ही कर्त्ता कहा जाता है। अगर ऐसा न किया जाय तो धर्म और व्यवहार—दोनों में ही गड़बड़ी पैदा हो जायगी। राज्य में सेनापति वही बनाया जाता है जो बल-पराक्रम आदि में सब से श्रेष्ठ हो। इसी प्रकार अनेक कारणों में से जो कारण प्रधान होता है, उसी को कर्त्ता कहते हैं, क्योंकि वह कार्य करने में स्वतंत्र होता है। चाक, पानी आदि अन्य कारण उसी की इच्छा पर निर्भर रहते हैं।

कर्म के बंध और उदीरणा आदि में आत्मा का व्यापार ही मुख्य है। घड़े में चाक आदि की भाँति और-और कारण सहायक अवश्य हैं, लेकिन वे गौण हैं। मुख्य को छोड़कर गौण को कर्त्ता नहीं बनाया जाता। कर्म के बंध आदि में मुख्य कर्त्ता जीव ही है, इसलिए जीव को ही कर्त्ता कहा है। आचार्य इस संबंध में प्रमाण का उल्लेख करते हैं—

अणुमेत्तो वि न कस्सइ बंधो परवत्थुपच्चया भणिओ।

अर्थात्—आत्मा के सिवाय अणुमात्र बंध भी उसे किसी अन्य वस्तु के कारण नहीं हो सकता। किसी भी वस्तु का बंध किसी अन्य वस्तु के निमित्त से नहीं होता।

अब यह देखना चाहिए कि उदीरणा किसे कहते हैं? भविष्य काल में उदय आने वाले कर्म को, शीघ्र नष्ट करने के लिए, करण विशेष द्वारा खींचकर उदयावलिका में लाना उदीरणा कहलाता है। मानलीजिए-किसी आदमी ने कर्म बाँधे। वे भविष्य में उदित होंगे। लेकिन नियत समय में उदय आने के पूर्व ही तप आदि द्वारा उदयावलिका में खींचकर उन्हें भस्म कर देना उदीरणा है।

गर्हा—अतीत काल में जो कर्म किया है, उनके कारणों को ग्रहण करके अपने आत्मा की निन्दा करना अर्थात्—हाय! मैंने चोरी की, असत्य भाषण किया, इत्यादि रूप से

कर्म बंध के कारणों का विचार करके आत्मनिन्दा करना गर्हा कहलाता है।

अपने यहाँ कई लोग कर्मों की निन्दा करते हैं, परन्तु उससे कोई विशेष लाभ नहीं है। वास्तव में कर्म करने वाले को स्व-आत्मा की निन्दा करनी चाहिए। इससे भविष्य काल में पापकर्म के प्रति विरक्ति का भाव जागृत होता है। गर्हा, उदीरणा में सहायक होती है। बारह प्रकार के तप में एक प्रायश्चित्त भी तप है और वह गर्हा के पश्चात् होता है। जब तक गर्हा न हो, तबतक प्रायश्चित् नहीं होता।

संवर—वर्त्तमान में किये जाने वाले पापकर्म के स्वरूप को जानकर या उसके हेतु को समझ कर उस कर्म को रोकना संवर कहलाता है। जैसे-चोरी या व्यभिचार को उसका निन्दनीय स्वरूप समझकर त्याग दिया, या चोरी और व्यभिचार के कारण को जानकर उसे त्याग दिया, तो वह संवर कहलाया।

आत्मा जैसे बंधका आप ही कर्त्ता है, उसी प्रकार उदीरणा, गर्हा और संवर का भी कर्त्ता आत्मा ही है।

शंका—अगर आत्मा स्वयं ही उदीरणा, गर्हा और संवर आदि का कर्त्ता है तो फिर गुरु के उपदेश आदि निरर्थक क्यों न माने जाएं?

समाधान—ऐसी बात नहीं है। संवर आदि में गुरु के उपदेश की सहायता भी आवश्यक है। लेकिन गुरु का उप-

देश होने पर भी संवर आदि करने वाला आत्मा ही है, इस लिए प्रधानता आत्मा की है; गुरु के उपदेश आदि वैसे प्रधान नहीं हैं। जब तक आत्मा स्वयं कुछ करने के लिए उद्यत न हो, गुरु आदि से कुछ भी नहीं हो सकता। जो स्वयं आत्मनिंदा करने को तैयार न होगा, उससे गुरु आदि कोई भी आत्मनिंदा नहीं करा सकते। गुरु आत्मा को शिक्षा देने वाले हैं, पर करने वाला तो आत्मा ही है। गुरु उपदेश देकर आत्मा के सुस्त पड़े हुए वीर्य को उत्साहित कर देते हैं लेकिन करता आत्मा ही है। इसलिए आत्मा आप ही उदीरणा करता है, आप ही गर्हा करता है और आप ही संवर करता है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! यह तो समझ में आगया कि आत्मा स्वयं ही कर्म की उदीरणा, गर्हा और संवरणा करता है, लेकिन वह किन कर्मों की उदीरणा करता है? उदीर्ण (उदय में आये हुए) कर्म की उदीरणा करता है या अनुदीर्ण (जो अभी तक उदय में नहीं आये) की उदीरणा करता है? या जो अनुदीर्ण हैं मगर उदीरणा करने के योग्य हैं उनकी उदीरणा करता है? या उदय हो चुकने के बाद पश्चात्कृत कर्म की उदीरणा करता है?

शंका—पहले प्रश्न में यह कहा गया है कि आत्मा स्वयं ही कर्म की उदीरणा, गर्हा और संवरणा करता है; लेकिन इसके बाद जो प्रश्न किया गया है कि आत्मा उदीर्ण कर्म की

उदीरणा करता है या अनुदीर्ण की करता है, या अनुदीर्ण-उदीरणा योग्य की करता है या उदयानन्तर पश्चात्कृत की उदीरणा करता है। सो इस प्रश्न में सिर्फ उदीरणा का ही ग्रहण क्यों किया है ? यहाँ गर्हा और संवर को क्यों छोड़ दिया ? अर्थात् यह क्यों नहीं पूछा कि उदीर्ण कर्म की गर्हा करता है, या अनुदीर्ण की गर्हा करता है आदि। इसी प्रकार संवर के विषय में भी प्रश्न क्यों नहीं किया ?

समाधान—उदीर्ण, अनुदीर्ण, अनुदीर्ण-उदीरणायोग्य और उदयानन्तर पश्चात्कृत, यह चार विशेषण उदीरणा के लिए ही हैं, इसलिए इन चार विशेषणों द्वारा उदीरणा के विषय में ही प्रश्न किया गया है। इन चारों विशेषणों में से एक भी विशेषण का सम्बन्ध गर्हा और संवर के साथ नहीं है। अतएव चारों में से किसी भी विशेषण का प्रयोग गर्हा और संवर के विषय में नहीं हो सकता।

शंका—अगर उदीरणा के साथ गर्हा और संवरणा का सम्बन्ध नहीं है तो फिर पहले के प्रश्न में इन तीनों को एक साथ क्यों रक्खा गया है ? यहाँ सिर्फ उदीरणा पर क्यों न ग्रहण किया ?

समाधान—गर्हा और संवरणा, दोनों उदीरणा के साधन हैं। यह बात प्रकट करने के लिए ही इन दोनों पदों को उदीरणा के साथ रक्खा है। इसी प्रकार सब जगह समझना

चाहिये। उक्त प्रश्न का जो उत्तर दिया गया है, उससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है।

गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किया है उसका उत्तर यह है कि आत्मा उदीर्ण कर्म की उदीरणा नहीं करता है, क्योंकि वे तो स्वयं ही उदय में आये हुए हैं। जो कर्म उदय में आ चुके हैं, उनकी भी अगर उदीरणा की जाय तो उदीरणा का पार न रहे। इस प्रकार अव्यवस्था हो जायगी। इसी प्रकार अनुदीर्ण कर्म की भी उदीरणा नहीं होती अर्थात् जिन कर्मों की भविष्य में बहुत देर से उदीरणा होने वाली है, या जिन कर्मों की उदीरणा भविष्य में नहीं होगी ऐसे उदीरणा के अयोग्य कर्मों की भी उदीरणा नहीं होती। जो कर्म स्वरूप से अनुदीर्ण हैं लेकिन उदीरणा के योग्य हैं वे उदीरणाभव्य कहलाते हैं। ऐसे ही कर्मों की उदीरणा होती है। जो होने वाला—जिसमें निश्चित रूप से होने की योग्यता पाई जाती है, उसे भव्य ( भाविक ) कहते हैं। इसलिए जिन कर्मों की उदीरणा होने वाली है उन्हें उदीरणाभव्य कहते हैं। उदीरणाभव्य कर्म विशिष्ट योग्यता को प्राप्त कर चुके हैं, इसलिए आत्मा ऐसे कर्मों की उदीरणा करता है। अर्थात् पूर्वोक्त चार भंगों में से तीसरे भंग के कर्मों की उदीरणा होती है। जो कर्म उदयानन्तर पश्चात्कृत हैं, उनकी भी उदीरणा नहीं होती। क्योंकि वे कर्म उदय में आ चुके हैं, इसलिए अतीत रूप हैं और अतीत वस्तु असत्-रूप होती है। अतएव ऐसे कर्म की उदीरणा नहीं होती।

शास्त्रकार कहते हैं—कर्म की उदीरणा में काल, स्वभाव, नियति ( होनहार ) आदि भी कारण हैं, लेकिन प्रधानता आत्मा के वीर्य की ही है। कल्पना कीजिए, किसी ने कहा—पुत्र, स्त्री के होता है।

इस कथन पर कालवादी कहता है--स्त्री तो दो वर्ष की कन्या भी होती है। उसके पुत्र क्यों नहीं होता ? इससे प्रतीत होता है कि काल ही पुत्रप्रसव का कारण है, क्योंकि अमुक काल व्यतीत होने पर ही पुत्र होता है।

स्वभाववादी ने कहा--अगर अमुक काल ( अवस्था ) से ही पुत्र होता है तो फिर वंध्या स्त्री भी उस अवस्था को प्राप्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वभाव ही पुत्र होने का कारण है।

तब नियतिवादी कहता है--हमने काल और स्वभाव दोनों देखे। न काल कारण है और न स्वभाव कारण है। एक स्त्री के तीस-चालीस वर्ष की अवस्था तक लड़का नहीं हुआ। यद्यपि वह अवस्था प्राप्त भी थी और लड़का जनने का उसमें स्वभाव भी मौजूद था। इसके बाद उसके लड़का हुआ। इस से यह साबित होता है कि नियति अर्थात् होनहार ही असल में कारण है। जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है।

नियतिवादी का कथन सुनकर ईश्वरवादी कहने लगा—होना या न होना ईश्वर के अधीन है। ईश्वर चाहता है तो लड़का होता है, नहीं चाहता तो नहीं होता।

पुरुपार्थवादी कहता है—अगर सभी कुछ होना ईश्वराधीन है तो हाथ-पैर हिलाने की क्या आवश्यकता है ? पुरुपार्थ से सिद्धि होती है, यह बात प्रत्यक्ष से सिद्ध है। अतएव पुरुपार्थ को ही कारण मानना चाहिए। सब कुछ पुरुपार्थ से ही होता है। विना पुरुपार्थ के पुत्र होना कभी और कहीं नहीं सुना जाता। अगर पूर्व जन्म के कर्म से पुत्र की उत्पत्ति मानी जाय तो वह कर्म भी पुरुपार्थ जन्य ही है।

इस प्रकार कर्म की उदीरणा में काल, स्वभाव आदि को भी अगर कर्त्ता माना जाय तो बड़ी गड़बड़ी होगी। इसके सिवा काल जड़ है। अगर काल ही कर्त्ता हो तो फिर पुरुपार्थ न करने पर भी कार्य ( उदीरणा ) होना चाहिए। इसी प्रकार स्वभाव और होनहार कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं। जड़ को कर्त्ता मानना और साक्षात् कर्त्ता को कर्त्ता न मानना कैसे ठीक कहा जा सकता है ? इसी प्रकार अगर ईश्वर सब कार्यों का कर्त्ता हो तब भी पुरुपार्थ व्यर्थ हो जाता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर को कर्त्ता मानने से और भी अनेक प्रकार की गड़बड़ी होती है। ईश्वर में अनेक दोषों का प्रसंग आता है। अतएव प्रधान कर्त्ता पुरुपार्थ ही है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि उदीरणा आदि कार्यों में काल, स्वभाव आदि भी कारण होते हैं, मगर आत्मा का वीर्य ही प्रधान कारण है। इस बात को प्रकट करने के लिए गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन् ! आत्मा अनुदीर्ण किन्तु

उदीरणा के योग्य कर्म की उदीरणा करता है, सो वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषार्थ-पराक्रम से उदीरणा करता है यानी पुरुषार्थ से करता है या काल, स्वभाव आदि से आप ही उदीरणा हो जाती है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं—हे गौतम ! आत्मा ऐसे कर्म की उदीरणा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम से करता है। इनके बिना उदीरणा नहीं होती।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जो कुछ होता है वह आत्मा के पुरुषार्थ से होता है और आत्मा में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम विद्यमान हैं।

इस प्रश्नोत्तर से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। यद्यपि कर्म उदीरणा के योग्य हैं, फिर भी उनकी उदीरणा अपने आप न होगी, किन्तु पुरुषार्थ से होगी। अतः जीव को किसी दूसरे के भरोसे न रहकर पुरुषार्थ करना चाहिए। क्या होने वाला है, और क्या नहीं होने वाला है, यह तभी मालूम होगा जब पुरुषार्थ करोगे। भगवान ने स्पष्ट कह दिया है कि उदीरणा होने योग्य कर्म की उदीरणा भी पुरुषार्थ से होती है। इसलिए पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। पुरुषार्थ से कदाचित् कोई कार्य-विशेष न हो तब भी पुरुषार्थ कभी खाली नहीं जाता। उदाहरणार्थ, एक आदमी फल लेने के लिए बाग में गया। बाग में उसे फल नहीं मिले। तब भी बाग में जाने से सुगंध और

स्वास्थ्यवर्द्धिनी हवा तो मिली ही। साथ ही, बाग में जाने से यह ज्ञान भी हो गया कि इस बाग में फल नहीं हैं। जिस पुरुषार्थ से यह मालूम हुआ कि इस बाग में फल नहीं हैं, उस पुरुषार्थ को न छोड़ने पर कल किसी दूसरे बाग में फल मिलेंगे ही। लेकिन बिना पुरुषार्थ किये, केवल होनहार के भरोसे बैठे रहने से फल कैसे मिलेंगे? इसलिए कर्म की उदीरणा के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। पुरुषार्थ करने पर भी, यदि उदीरणा के योग्य कर्म न होने से कभी उदीरणा नहीं होगी, तब भी पुरुषार्थ खाली नहीं जायगा। गर्हा और संवरणा करते रहने से लाभ ही होगा।

यहाँ तक कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर हुए। अब कांक्षामोहनीय के उपशान्त होने के विषय में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं। प्रश्न यह है—भगवन्! यह निश्चय है कि आत्मा अपने आप ही कर्म को उपशान्त करता है, गर्हता है और संवरता है? भगवन् ने उत्तर फर्माया—हाँ, गौतम! यह सब कथन उदीरणा के विषय में दिये गये उत्तर की ही तरह समझना चाहिए। विशेष बात यह है कि जो कर्म उदय में नहीं आये हैं। वही उपशान्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त चार भंगों में से यहाँ दूसरा भंग कहना चाहिये।

मोहनीय कर्म का ही उपशम होता है। इस विषय में शास्त्र का पाठ है:—

मोहस्सेवोवसमो, खओवसमो चउण्हं घाईणं ।
उदय-क्खय परिणामा, अट्ठण्ह विहोंति कम्माणं ॥

अर्थात्--उपशम मोहनीय कर्म का ही होता है, क्षयोपशम ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घाति कर्मों का ही होता है, तथा उदय, क्षय और परिणाम आठों ही कर्मों का होता है।

उपशम का अर्थ यह है—उदीर्ण (उदय में आये हुए), कर्म का क्षय होना, और जो उदय में नहीं आये हैं उनके विपाक और प्रदेश का अनुभव न होना। कर्म की ऐसी अवस्था को उपशम कहते हैं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ऐसा होना तो क्षयोपशम है, उपशम क्यों कहा ? इसका समाधान यह है कि क्षयोपशम में भी उदीर्ण कर्म का क्षय होता है, लेकिन वहाँ प्रदेश से कर्म का अनुभव होता है, सिर्फ विपाक से अनुभव नहीं होता। इस प्रकार जब कर्म के प्रदेश और विपाक का अनुभव नहीं होता तब उपशम कहलाता है और जब सिर्फ विपाक से अनुभव नहीं होता, लेकिन प्रदेश से अनुभव होता है तब क्षयोपशम कहलाता है। यह उपशम और क्षयोपशम में अन्तर है। उदाहरणार्थ—एक अग्नि जल रही थी और उसकी लपटें उड़कर जला रही थीं। उस अग्नि पर टोकरी भर कर राख डाल दी गई। राख पड़ने से लपटों का निकालना बंद होगया और

अग्नि से जो गर्मी मालूम होती थी वह भी रुक गई। इस प्रकार राख डालने से लपटें निकलना और गर्मी पहुंचाना, दोनों बातें रूक गई। यही बात उपशम के विषय में है। क्षयोपशम में तो कर्म रूपी अग्नि की थोड़ी-थोड़ी आँच लगती है, लेकिन उपशम में जरा भी नहीं लगती।

एक तो अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के समय उपशम होता है और दूसरे उन महात्माओं को होता है जो उपशमश्रेणी में पहुँच जाते हैं।

उपशम के सम्बन्ध में भी उदीरणा के समान ही कथन समझना चाहिये। विशेषता यह है कि अनुदीर्ण कर्म का ही उपशम होता है।

जैन शास्त्रों में कर्म का जैसा विचार किया गया है, वैसा सूक्ष्म और सर्वांगीण विचार किसी भी अन्य शास्त्र ने नहीं किया है। और किसी ने ऐसा विचार किया हो या न किया हो, लेकिन आपको जो ऐसी अनुपम चीज़ मिली है, यहां यह बारीक तत्वज्ञान उपलब्ध हुआ है, उससे आप लाभ न उठावें और वह ऐसे ही शास्त्रों में पड़ा रहे, यह कहाँ तक उचित है? भगवान् ने कहा है—पुरूषार्थ से कर्म को उपशान्त भी कर सकते हो और क्षीण भी कर सकते हो। ऐसा होते हुए भी आप उपशम या क्षय के लिए प्रयत्न न करो और कषाय बढ़ाने में लगे रहो, यह कितनी बुरी बात है?

भगवान ने यह नहीं कहा है कि इन तत्वों को जानने वाला ही कर्म को उपशान्त करता है, न जानने वाला नहीं कर सकता। चाहे कोई इन तत्वों को न भी जानता हो, लेकिन जो इसके लिए पुरुषार्थ करेगा, वह कर्मों का क्षयोपशम, क्षय और उपशम कर सकता है।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं--भगवन् ! जीव अपने आप ही कर्म वेदता है और गर्हता है ? इसके उत्तर में भगवान ने कहा--गौतम ! हाँ, यह सब बात पूर्व की ही तरह समझो। विशेष यह है कि उदीर्ण को वेदता है, अनुदीर्ण को नहीं वेदता।

गौतम स्वामी ने यह प्रश्न दुनिया का भ्रम मिटाने के लिए किया है। दुनिया में भ्रम बहुत हैं। लोग कहते हैं--एक को वेदना होने के साथ ही दूसरा भी दुःख भोगता है। जैसे-पुत्र को जब वेदना होती है, तब पुत्र की वेदना से माता भी दुःखी होती है। इसी प्रकार और भी कई बातें देखी जाती हैं। जैसे एक का कष्ट दूसरा भोगता है। इस बात को लेकर प्रश्न होता है कि भगवान ने यह क्यों कहा कि जीव अपने आप ही वेदता है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए अनाथी मुनि का वृत्तान्त समझने योग्य है। यद्यपि अनाथी मुनि को वेदना होती थी और उनकी वेदना के कारण उनके माता-पिता को भी कष्ट होता था। लेकिन माँ बाप को उनकी वेदना होती थी और अनाथी मुनि को अनाथी मुनि की वेदना होती थी।

अनाथी मुनि ने अपनी वेदना तो ज्ञान से मिटा ली थी, अब उनके माँ बाप अपनी वेदना अपने आप ही मिटा सकते थे। तात्पर्य यह है कि किसी दूसरे की वेदना दूसरे को नहीं होती, अपने को अपनी ही वेदना होती है।

यह भी देखने में आता है कि वेदना वाले के पास बैठे हुए को तो वेदना नहीं होती और जो दूर हैं उन्हें वेदना होती है। इससे यह सिद्ध है कि दूसरे की वेदना दूसरे को नहीं होती, किंतु जिसकी वेदना उसी को होती है।

भगवान ने इस प्रश्न के उत्तर में फर्माया—जीव अपने आप ही कर्म को वेदता है और उदय में आये हुए कर्म को ही वेदता है। जो कर्म उदय में नहीं आया उसे नहीं वेदता है।

वेदना के इस प्रश्न में गर्हा भी आया है। मगर उत्तर में सिर्फ वेदना के विषय में ही कहा गया है। इसका कारण यह है कि सकाम वेदना और सकाम निर्जरा बिना गर्हा के नहीं होती। वेदना और निर्जरा तो बिना गर्हा के भी होती है, मगर वह अकाम वेदना और निर्जरा है, सकाम नहीं। सकाम वेदना और सकाम निर्जरा का कारण गर्हा है। अतएव प्रश्न में कारण को भी ग्रहण कर लिया गया था, उत्तर में उसे ग्रहण करना आवश्यक था।

वेदन किये हुए (भोगे हुए) कर्म की निर्जरा होती है, इसीलिए अब गौतम स्वामी निर्जरा के विषय में प्रश्न करते हैं।

वे पूछते हैं—भगवन्! क्या आत्मा अपने आप ही कर्म की निर्जरा और गर्हा करता है? भगवान फर्माते हैं—गौतम! अपने आप ही आत्मा कर्म निर्जरा करता है। और आप ही की गर्हा करता है। अर्थात् आत्मा अपने उत्थान, कर्म, बल, वीर्य पुरुषकार-पराक्रम से निर्जरा और गर्हा करता है। विशेष यह है कि उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म की निर्जरा होती है।

कई कर्मों की निर्जरा ऐसी होती है कि उनकी वेदना मालूम नहीं होती, लेकिन कोई भी कर्म उदय में आये बिना निर्जीर्ण नहीं हो सकता। वेदना, विपाक और प्रदेश-दो से होती है। कई कर्मों का विपाक तो मालूम होता है, मगर प्रदेश-वेदना मालूम नहीं पड़ती। ज्ञानी कहते हैं कि हमें चाहे मालूम हो या नहीं, मगर वेदना के बिना कर्म की निर्जरा नहीं होती। वेदना के बाद ही निर्जरा होती है।

सकाम निर्जरा, गर्हा और संवरणा के बिना नहीं होती। गर्हा और संवरणा के अभाव में होने वाली निर्जरा में जीव हाय हाय करता है, जिससे बहुत सारे नये कर्मों का बंध होता है।

सनत्कुमार चक्रवर्ती को देवता का परिचय हुआ। उन्हें अहंकार हो आया। अहंकार करने से उनके शरीर में सोलह प्रकार के रोग हो गये। सनत्कुमार चक्रवर्ती कहते थे—यह रोग, रोग नहीं हैं-मेरे मित्र हैं। इनसे मेरा बड़ा उपकार हुआ

है। इनके आने से, मुझे शरीर और संसार पर जो घमण्ड था, वह चकनाचूर हो गया है। ऐसा विचार कर सनत्कुमार चक्रवर्त्ती ने दीक्षा ले ली। वही पहले वाला देव, वैद्य बनकर सनत्कुमार मुनि के पास उनकी परीक्षा करने आया। उसने मुनि से कहा—महाराज! आपके शरीर में बहुत रोग हैं। मैं वैद्य हूँ आप कहें तो इनकी चिकित्सा कर दूँ।

सनत्कुमार मुनि बोले—वैद्यराज, आप आन्तरिक रोगों की चिकित्सा करेंगे या बाह्य रोगों की?

वैद्य (देव)—महात्मन्! मैं आत्मा का रोग तो नहीं मिटा सकता। हाँ, शरीर के रोग मिटा दूँगा।

मुनि—मुझे ऐसी लब्धि प्राप्त है कि अगर चाहूँ तो एक क्षण में तमाम रोग दूर हो सकते हैं। मगर यह रोग मेरे मित्र हैं, उपकारक हैं इसलिए मैं इन्हें नष्ट नहीं करना चाहता।

इतना कहकर मुनि ने एक जगह अपना पीव (मवाद) लगाया। देव यह देखकर चकित रह गया कि जिस जगह पीव लगाया गया, वह जगह कंचन-सी हो गई थी।

मतलब यह है कि वेदना को संवरण और गर्हा से भोगा जाय तो नवीन कर्मों का बंध नहीं होता।

उदय में आये हुए कर्मों का आत्मप्रदेश से अलग हो जाना निर्जरा है। यों तो निर्जर शब्द के 'देव' आदि अनेक अर्थ

होते हैं, मगर यहाँ कर्म के प्रकरण में वह नहीं समझना चाहिए।

उदीरणा, उपशमना, वेदना और निर्जरा सम्बन्धी एक संग्रहगाथा कही है। वह इस प्रकार है—

*तइएण उदीरेंति, उवसामंति पुणो वि बीयेणं ।*
*वेइंति निज्जरांतिय, पढम चउत्थेहिं सव्वे वि ॥*

अर्थात्--पहले जो चार भांगे कहे हैं, उनमें से तीसरे भांगे में उदीरणा होती है, दूसरे में उपशम होता है, पहले में वेदन होता है और चौथे में निर्जरा होती है? शेष सब बातें सब में समान हैं।

## मूलपाठ—

प्रश्न—नेरइया णं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति ?

उत्तर—जहा ओहिया जीवा तहा नेरइआ; जाव थणियकुमारा।

प्रश्न—पुढविक्काइया णं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेइंति ?

उत्तर—हंता, वेइंति ।

प्रश्न—कह णं भंते ! पुढविक्काइया कंखा-मोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

उत्तर—गोयमा ! तेसि णं जीवाणं णो एवं तक्काइ वा, सण्णा इ वा, पण्णा इ वा, मणे इ वा, वई त्ति वा अम्हे णं कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएमो, वेएंति पुण ते ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइअं ?

उत्तर—सेसं ते चेव, जाव–पुरिसक्कारपरिक्कमे इ वा, एवं जाव चउरिंदियाणं–पंचिंदियतिरिक्ख जोणिया जाव–वेमाणिया जहा ओहिया जीवा ।

प्रश्न—अत्थि णं भंते ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति ?

उत्तर—हंता, अत्थि ।

प्रश्न—कह णं भंते ! समणा निग्गंथा कंखा-मोहणिज्जं कम्मं वेएंति ?

उत्तर—गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं नाणंतरेहिं दंसणंतरेहिं, चरित्तंतरेहिं, लिंगंतरेहि, पवयणंतरेहिं, पावयणंतरेहिं, कप्पंतरेहिं, मग्गंतरेहिं, मयंतरेहिं, भंगंतरेहि, णयंतरेहिं, नियमंतरेहिं, पमाणंतरेहिं, संकिया, कंखिआ, वितिगिच्छिआ, भेअसमावन्ना, कलुससमावन्ना एवं खलु समणा निग्गंथा कंखा-मोहणिज्जं कम्मं वेइंति ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइअं ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं, णीसंकं, एवं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेइवा, सेवं भंते ! सेवं भंते !

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?

उत्तर—यथौधिका जीवास्तथा नैरयिकाः, यावत्-स्तनितकुमाराः ।

प्रश्न—पृथ्वीकायिका भगवन् काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?

उत्तर—हन्त, वेदयन्ति ।

प्रश्न—कथं भगवन् ! पृथ्वीकायिकाः काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?

उत्तर—गौतम ! तेषां जीवानां नो एवं तर्क इति वा, संज्ञेति वा, प्रज्ञेति वा, मनइति वा, वच इति वा,— वयं काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयामः, वेदयन्ति पुनस्ते ।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! तदेव सत्यं, निश्शंकं, यज्जिनैः प्रवेदितम् ?

उत्तर—शेषं तदेव, यावत् पुरुषकार पराक्रम इति वा । एवं यावत्-चतुरिन्द्रियाणाम् । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका यावद्-वैमानिका यथौधिका जीवाः ।

प्रश्न—अस्ति भगवन् ! श्रमणा अपि निर्ग्रन्थाः काङ्क्षामोहनीय कर्म वेदयन्ति ?

उत्तर—हन्त, अस्ति ।

प्रश्न—कथं भगवन ! श्रमणा निर्ग्रन्थाः काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति !

उत्तर—गौतम ! तैस्तैः कारणैः—ज्ञानान्तरैः, दर्शनान्तरैः, चरित्रान्तरैः, लिंगान्तरैः, प्रवचान्तरैः, प्रावचनिकान्तरैः, कल्पान्तरैः, मार्गान्तरैः, मन्तातरैः, भगान्तरैः, नयान्तरैः, नियमान्त्रैः, प्रमाणान्तरैः, शंकिता, काङ्क्षिताः, विचिकित्सिताः, भेदसमापन्नाः, कलुषसमापन्नाः एवं खलु श्रमण निर्ग्रन्थाः कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयान्ति ।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! तदेव सत्यं, निश्शंकं यद् जिनै प्रवेदितम् ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! तदेव सत्यं, निश्शंकं, एवं यावत् पुरुषकार पराक्रम इति वा ।

तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् !

## शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! नारकी जीव कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं ?

उत्तर—जैसे सामान्य जीव कहे, वैसे ही नैरयिक भी समझना चाहिए । और इसी प्रकार यावत्-स्तनितकुमारों तक जानना चाहिए ।

प्रश्न—भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं ?

उत्तर—हाँ, गौतम ! वेदते हैं।

प्रश्न—भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदते हैं ?

उत्तर—गौतम ! उन जीवों को ऐसा तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा, मन या वचन नहीं होता कि 'हम कांक्षामोहनीय कर्म को वेदते हैं, मगर वे उसे वेदते हैं।

प्रश्न—भगवन् ! वह सत्य और निश्शंक है, जो 'जिनों' ने प्ररूपण किया है ?

उत्तर—गौतम ! शेष सब पहले के समान समझना। अर्थात्–जिनों ने जो प्ररूपण किया है वह सत्य और असंदिग्ध है, यावत् पुरुषकार पराक्रम से निर्जरा होती है। इस प्रकार चौ इन्द्रियों तक जानना। जैसे सामान्य जीव कहे, वैसे ही पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनि वाले यावत् वैमानिक कहना चाहिए।

प्रश्न—भगवन् ! श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं ?

उत्तर—हाँ, गौतम ! वेदते हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! श्रमण निर्ग्रंथ कांक्षामोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदते हैं ?

उत्तर—गौतम ! अमुक अमुक ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चरित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तर के द्वारा शंका वाले, कांक्षा वाले, विचिकित्सा वाले, भेद समापन्न और कलुषसमापन्न होकर, इस प्रकार श्रमण निर्ग्रंथ भी कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! वही सत्य और असंदिग्ध है, जो जिनों ने प्ररूपण किया है ?

उत्तर—हाँ, गौतम वही सत्य है, असंदिग्ध है, यावत्-पुरुषकार पराक्रम से निर्जरा होती है ।

भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! भगवन् ! यही सत्य है !

## व्याख्यान

अब चौबीसों दंडक की अपेक्षा से, वेदना से लगाकर निर्जरा तक का विचार किया जाता है।

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन् ! नारकी जीव दुःखों की भट्टी में तप रहे हैं। क्या वे भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ? भगवन् ने कहा—हाँ, गौतम ! वे भी वेदन करते हैं। सामान्य जीवों के सम्बन्ध में जो बातें कही गई थीं, वही सब बातें यहाँ भी लागू होती हैं। और वही सब बातें स्तनित-कुमारों तक भी समझ लेनी चाहिये।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ? भगवान फर्माते हैं—हाँ, वे भी वेदन करते हैं।

पृथ्वीकायिक जीवों के संबंध में यह उत्तर सुनकर गौतम स्वामी को मानो आश्चर्य हुआ। जिन जीवों में केवल एक मात्र इन्द्रिय है, वे किस प्रकार कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ? जिन्हें मनोलब्धि प्राप्त है, वे जीव कांक्षामोह का अनुभव करें; यह तो ठीक है लेकिन जिन में मनोज्ञान नहीं है, जिन्हें अच्छे-बुरे की भी पहचान नहीं है, वे कांक्षामोह को कैसे वेदन करते हैं ! इस प्रकार के आश्चर्य से गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार वेदन करते हैं ? इसके उत्तर में भगवान ने

फर्माया--हे गौतम ! 'हम कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं' इस प्रकार उन जीवों में तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा, मन और वचन नहीं हैं, फिर भी व वेदते हैं।

तर्क अर्थात् विमर्श। संज्ञा अर्थात् अर्थावग्रह रूप ज्ञान। अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का है:--अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। इनके संवंध में पहले ही कहा जा चुका है। प्रज्ञा का अर्थ वुद्धि है। विशेष रूप से देखना या सव विशेषों सम्बन्धी ज्ञान प्रज्ञा कहलाता है। स्मरणादि रूप मतिज्ञान के भेद को मन कहते हैं। वचन का अर्थ प्रसिद्ध ही है।

पृथ्वीकाय के जीवों में तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा और मन नहीं है, उनमें वोलने की शक्ति भी नहीं है, फिर भी हे गौतम ! वे जीव कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं।

गौतम स्वामी को आश्चर्य है कि वे पृथ्वीकाय के जीव यह भी नहीं जानते कि 'हम कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं' फिर भी भगवान कहते हैं—वे इस कर्म को वेदते हैं। इस प्रकार आश्चर्य कर के गौतम स्वामी कहते हैं—प्रभो ! हम अपने इस तर्कवाद को वंद करते हैं—इस विषय में किसी प्रमाण की माँग नहीं करते। हम केवल यही पूछना चाहते हैं कि जिन भगवान का कथन सत्य और शंका रहित है न ?

इसके उत्तर में भगवान ने फर्माया—हे गौतम ! हाँ वह सत्य और शंकारहित है जो 'जिन' का कहा हुआ है। पृथ्वीकाय

के जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार वेदन करते हैं, यह मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूं। तुम्हें कितना भी समझाया जाय, तुम्हारी समझ में यह बात न आवेगी।

हम अपने ही सम्बन्ध में देखें तो विदित होगा कि बहुतेरी बातें हमारे ही संबंध की होती हैं, फिर भी उनका हमें पता नहीं चलता। इसीलिए येवन्ता मुनि ने कहा था—मैं जिसे जानता हूँ उसे नहीं जानता और जिसे नहीं जानता उसे जानता हूं। अर्थात् यह जानता हूं कि 'जिन' की कही बात सत्य है, परन्तु यह नहीं जानता कि उन्होंने किस और क्या देखा है? अगर मुझे इतना ज्ञान और हो जाय तो जिन भगवान में और मुझ में भेद न रहे। इसके लिए एक सुबोध उदाहरण लीजिए। हमें मालूम है कि हम जो भोजन करते हैं, उसका सार रोम-रोम में जाता है लेकिन यह नहीं जानते कि किस अंग में कितना जाता है? दूध सफेद होता है, लेकिन उसका सार काले बालों में भी पहुंचता है। और सफेद बालों में भी, आँख के सफेद भाग में भी इसका सार पहुंचता है और काले भाग में भी पहुंचता है। यह जानते हुए भी हम यह नहीं जानते कि किस भाग में कितना और कैसे पहुंचता है! जब हम अपने शरीर का ही हाल नहीं जानते तो पृथ्वीकाय का हाल कैसे जान सकते हैं? इसके अतिरिक्त पृथ्वीकाय के जीव कांक्षामोहनीय कर्म नहीं वेदते, यह कैसे कहा जा सकता है? इस विषय में क्या प्रमाण है? अतएव वही बात सत्य है, जो भगवान ने कहा है।

गौतम स्वामी आगे प्रश्न करते हैं—भगवन् ! पृथ्वीकाय के जीव कांक्षामोहनीय कर्म अपने आप-उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार पराक्रम से वेदते हैं या होनहार आदि से ? इसके उत्तर में भगवान ने फर्माया—गौतम ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य आदि से वेदते हैं, होनहार आदि से नहीं वेदते।

इससे पुनः यही सिद्ध होता है कि आत्मा ही कर्त्ता है, होनहार आदि कर्त्ता नहीं हैं। यह बात दूसरी है कि किस तरह से क्या होता है। यह तुम नहीं जानते। लेकिन यह भी अगर जानते हो तो फिर उपदेश की आवश्यकता ही क्या थी ? उपदेश तो न जानने वाले के लिए ही है।

पृथ्वीकाय—जीव की तरह अपकाय, वायुकाय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय और चौइन्द्रिय तक जानना चाहिए। तिर्यंच पंचेन्द्रिय से वैमानिक तक समुच्चाय जीव के वर्णन की तरह समझना चाहिए। पाँच स्थावरों और तीन विकलेन्द्रियों के गर्हणा संवरणा नहीं होती, क्योंकि उनके मन नहीं है।

कांक्षामोहनीय कर्म के संबंध में एक बात का विचार और भी होता है। वह यह है कि दूसरे जीव कांक्षामोहनीय कर्म बाँधते हैं, यह तो ठीक है, लेकिन शायद साधु इसका बंध नहीं करते होंगे ? साधु संसार का त्याग कर चुके हैं, उनकी बुद्धि जिनागम से पवित्र हो चुकी है। अतएव वे कांक्षामोहनीय को कैसे वेदते होंगे ? साथ ही मोह का वेग

कितना प्रबल होता है, उसकी शक्ति कितनी प्रचण्ड है, यह बात बाल जीवों को समझाने के लिए गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं:—भगवन्! क्या श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं?

शत्रु मित्र पर समभाव रखने वाले को श्रमण कहते हैं और संसार एवं परिग्रह की ग्रंथि से जो मुक्त हो उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान में फर्माया— हे गौतम! श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं। तब गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—'भगवन् श्रमण निर्ग्रन्थ किस प्रकार कांक्षामोहनीय का वेदन करते हैं?

यहाँ 'अपि' शब्द संभावना के अर्थ में है। अर्थात् क्या यह संभव है कि श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं? उत्तर में भगवान बोले-गौतम! यद्यपि श्रमण निर्ग्रन्थ जिनागम के ज्ञाता और ज्ञानी हैं, जिनागम से उनकी बुद्धि विशाल और विशद हो गई है लेकिन उनके हृदय में भी बुद्धि की खटपट से गड़बड़ होजाती है और तब वे कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं।

बुद्धि की खटपट से आत्मा का विश्वास चला जाता है। ऐसी अवस्था में बड़ा अनर्थ होता है। अधिक जानकार है वही अधिक गड़बड़ में पड़ते हैं। ग्रामिणों की अपेक्षा नागरिक को अधिक घबराहट होती है, क्योंकि वे अधिक जानकार

होते हैं। अधिक जानकारी वाले बुद्धि की खटपट में अधिक पड़ते हैं।

भगवान कहते हैं—इन कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म वेदन करते हैं—ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, भंगान्तर, नयान्तर और प्रमाणान्तर। इन कारणों से शंकित, कांक्षित, विचिकित्सायुक्त, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर कांक्षामोहनीय कर्म का उन्हें वेदन करना पड़ता है।

एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान, ज्ञानान्तर कहलाते हैं। इसके विषय में शंका हो जाना कि ऐसा क्यों है? यथा—अवधिज्ञान परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेश वाले रूपी स्कंध को जानता है, इसलिए उसके असंख्यात प्रकार हैं। अर्थात् वह रूपी पदार्थों को जानता है। मनःपर्याय ज्ञान मनोद्रव्य को जानता है; मनोद्रव्य भी रूपी है। रूपी होने के कारण मनोद्रव्य अवधिज्ञान के द्वारा जाने जा सकते हैं। ऐसी हालत में दो ज्ञानों की क्या आवश्यकता है? जैसे एक महाप्रकाश से सब पदार्थ दिखाई देते हैं, तब एक पदार्थ को प्रकाशित करने वाले छोटे प्रकाश की क्या आवश्यकता है? कौन जाने इसमें क्या तत्व है? न जाने इन दोनों ज्ञानों की कल्पना क्यों की गई है? इस प्रकार का सन्देह हो जाना और उसमें अश्रद्धा की मिलावट होना शंका है।

इस प्रकार की शंका होने से कलुषता आती है और इससे कांक्षामोहनीय का बंध होता है। इस तरह एकान्त पकड़ बैठने से साधुपन भी चला जाता है और मिथ्यात्व आ जाता है।

ऊपर ज्ञानों के विषय में जो शंका बतलाई गई है उसका समाधान होना भी आवश्यक है। इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—यद्यपि मनोगत पदार्थ रूपी हैं और अवधिज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं, तथापि मन-पर्याय ज्ञान और अवधिज्ञान एक नहीं हो सकते। दोनों भिन्न हैं। दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। मनःपर्याय ज्ञान, मन के भीतर आने वाले पदार्थ के विकल्प को ही जानता है और किसी पदार्थ को नहीं जानता। एक पदार्थ हाथ में हो तब उसे मनःपर्याय ज्ञान नहीं जान सकता, लेकिन उसी पदार्थ का मन में चिन्तन किया जाय तो वह जान लेगा। उदाहरण के लिए, मनःपर्याय ज्ञानी कलकत्ता नगर को मनःपर्याय ज्ञान से नहीं जान सकता। लेकिन जिसने कलकत्ता देखा है, वह यदि अपने मन में कलकत्ता का विकल्प करेगा तो मनःपर्याय ज्ञानी उस मन के द्रव्यों को मनःपर्याय ज्ञान से देख लेगा। अवधिज्ञानी सामान्य देखकर विशेष देखता है अर्थात् अवधिज्ञान दर्शनपूर्वक होता है किन्तु मनःपर्ययज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं होता। इसके अतिरिक्त कोई-कोई अवधिज्ञान, मनोद्रव्यों को विषय नहीं करता है और कोई-कोई मनोद्रव्य के साथ अन्य रूप पदार्थों को भी विषय करता है। अर्थात कोई भी अवधिज्ञान ऐसा नहीं है जो मनःपर्याय ज्ञान

की तरह सिर्फ मनोद्रव्यों को ही जानता हो। यह दोनों ज्ञानों में विषय की अपेक्षा अन्तर है।

अवधिज्ञान और मनः पर्यायज्ञान में और भी बहुत अन्तर है। मनः पर्यायज्ञान सिर्फ अढ़ाई द्वीप के संज्ञी जीवों के मनो-द्रव्य को ग्रहण करता है, जब कि अवधिज्ञान समस्त लोकाकाश के रूपी पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्याय अत्यन्त सूक्ष्मज्ञेय को भी जानता है। अवधिज्ञान के स्वामियों में और मनःपर्याय ज्ञान के स्वामियों में भी भेद है। अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है, किन्तु मनःपर्याय ज्ञान केवल मनुष्य को होता है और वह भी उत्कृष्ट चारित्र वाले, लब्धिधारी मुनि को ही होता है। इस प्रकार विषय, क्षेत्र, स्वामी आदि अनेक अपेक्षाओं से दोनों ज्ञानों में अन्तर है।

अवधिज्ञान और मनः पर्यायज्ञान में और भी भेद है। जैसे सूर्य के होते हुए भी चन्द्र की आवश्यकता है--सूर्य गर्मी देता है और चन्द्र शीतलता प्रदान करता है। उसी प्रकार अवधिज्ञान के विद्यमान होने पर भी मनःपर्याय ज्ञान की आवश्यकता है। अवधिज्ञान वाले को कोप भी आ जाता है. संसार के भोग भोगते हुए भी इन्द्रादिक अवधिज्ञानी होते हैं। लेकिन मनःपर्यायज्ञानी शुद्ध और शीतल होते हैं।

इसे कहते हैं, ज्ञानान्तर। ज्ञानों के अन्तर को न समझकर उनके विषय में शंका करने से और फिर शंका न मिटाने से

कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता आती है और इससे कांक्षा मोहनीय कर्म का बंध होता है।

ज्ञानान्तर की तरह दर्शनान्तर से भी कांक्षामोहनीय का बंध होता है। वस्तु के सामान्य धर्म को जानने वाली शक्ति दर्शन कहलाती है। उदाहरण के लिए--पुस्तक के काले अक्षर सब आँख वालों को दीखते हैं। इन्हीं अक्षरों को पढ़ा-लिखा मनुष्य विशेष रूप से देखता है और अनपढ़ सामान्य रूप से देखता है। अनपढ़ को तो सब अक्षर एक-से काले-काले ही नज़र आएँगे। इन दो प्रकार के देखने में विशेष रूप से देखना ज्ञान है और सामान्न रूप से देखना दर्शन है।

सामान्य बोध ( दर्शन ) दो प्रकार से होता है—इन्द्रिय निमित्त से और अनिन्द्रियनिमित्त से। इन्द्रियों में श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, और स्पर्शन हैं तथा अनिन्द्रिय में मन है। कोई सामान्य बोध इन्द्रियों से होता है, कोई मन से।

यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि—जब इन्द्रिय और मन से होने वाला सामान्यबोध दर्शन कहलाता है, तो फिर एक चक्षुदर्शन और दूसरा अचक्षुदर्शन, इस प्रकार दो भेद करने की क्या जरूरत है? अगर इन्द्रियजन्य और अनिन्द्रियजन्य भेद करने थे तो श्रोत्रदर्शन, चक्षुदर्शन, घ्राणदर्शन, रसनादर्शन और स्पर्शनदर्शन तथा मनोदर्शन, इस प्रकार छ भेद करने चाहिए थे। अथवा संक्षेप में इन्द्रियदर्शन और मनोदर्शन रूप

दो भेद ही किये होते तो उचित था। लेकिन चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन भेद क्यों किये हैं? कौन जाने इस प्रकार दो भेद करने का क्या अभिप्राय है? इस प्रकार अश्रद्धापूर्ण शंका होने से कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता आती है तथा मोहनीय कर्म का वेदन हो जाता है।

इस शंका का समाधान इस प्रकार है:—प्रत्येक वस्तु में सामान्य धर्म भी होते हैं और विशेष धर्म भी होते हैं। अतएव कभी सामान्य रूप से वस्तु का कथन किया जाता है और कभी विशेष रूप से। यहाँ चक्षुदर्शन कह कर विशेष रूप से कथन किया गया है और अचक्षुदर्शन कह कर सामान्य रूप से निरूपण किया गया है! अर्थात् चक्षुदर्शन यह भेद विशेष है और अचक्षुदर्शन भेद सामान्य है।

यहाँ यह शंका होती है कि चक्षु को विशेष और शेष चार इन्द्रियों को सामान्य कहने का क्या कारण है? अपने-अपने कार्य में सभी इन्द्रियाँ विशेष हैं। देखते समय आँख विशेष है तो सुनने के समय कान विशेष है। सूँघने के समय नाक विशेष है तो आस्वादन करते समय जिह्वा विशेष है। फिर अकेली आँख को विशेष बताना और शेष को सामान्य बताना कैसे उचित कहा जा सकता है?

इस शंका के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—यह कथन ठीक हो सकता है और दर्शन के भेद दूसरे रूप से भी किये जा

सकते हैं। लेकिन चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन-इस प्रकार दो भेद करने का और भी कारण है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। जो इन्द्रिय अपने ज्ञेय पदार्थ को प्राप्त करके-स्पर्श करके ज्ञान कराती है वह प्राप्यकारी कहलाती है और जो प्राप्त किये विना ही ज्ञान करा देती है उसे अप्राप्यकारी कहते हैं। चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है और शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। उदाहरणार्थ—अगर शब्द का कान के साथ संबंध न हो, शब्द को कान में न पड़ने दिया जाय तो शब्द का ज्ञान नहीं होता है। शब्द जब कान में पड़ता है तभी उसका ज्ञान होता है। इसी प्रकार नाक मूंद लेने पर गंध का ज्ञान नहीं होता। जीभ और त्वचा से स्पर्श हुए विना वस्तु का रस—खट्टा-मीठापन आदि और स्पर्श सर्द-गर्म आदि मालूम नहीं हो सकता। इस प्रकार श्रोत्र, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रिय को अपने विषय का ज्ञान तब होता है, जब विषय इन्हें प्राप्त हो जाता है। इसलिए यह चारों इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। आँख के विषय में यह बात नहीं है। आँख जिस रूप को देखती है, उसका आँख के साथ स्पर्श नहीं होता। आँख दूर की चीज़ को तो देखती है, मगर अपने आप में के काजल को और अपनी पुतली को नहीं देखती। इसलिए आँख अप्राप्यकारी है। इस भेद को लेकर चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, यह दो भेद दर्शन के किये गये हैं।

इस समाधान के विषय में भी एक प्रश्न किया जा सकता है। वह यह कि अगर प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी के भेद से दर्शन के दो भेद किये गये हैं तो मन अप्राप्यकारी होने से मनोदर्शन को प्राप्यकारी इन्द्रियों के दर्शन के साथ क्यों कहा है ?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए आचार्य कहते हैं—मन अप्राप्यकारी अवश्य है, वह अपने विषय का स्पर्श किये बिना ही उसे देख लेता है, लेकिन वह प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ भी रहता है। मन, सब इन्द्रियों के साथ रहता है—श्रोत्र, घ्राण आदि प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ भी और अप्राप्यकारी चक्षु के साथ भी। मगर प्राप्यकारी इन्द्रियाँ चार हैं और अप्राप्यकारी सिर्फ एक है। अतएव मन प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ अधिक रहता है। इस कारण अप्राप्यकारी होने पर भी उसे प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ गिना है।

अथवा-दर्शन का दूसरा अर्थ 'सम्यक्त्व' है। दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व के संबंध में आगे कहे अनुसार शंका होने पर कांक्षा, कलुषितता आदि होने पर कांक्षामोहनीय कर्म का बंध होता है।

शास्त्रों में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व अलग-अलग बतलाये गये हैं। मिथ्यात्व या अनन्तानुबंधी चौक का, जो उदय में आ गया हो क्षय हो जाए और जो मिथ्यात्व उदय में नहीं आया है उसका उपशम हो ऐसी

अवस्था में होने वाला सम्यक्त्व क्षयोपशमिक कहलाता है। कहा भी है—

*मिच्छत्तं जमुदिएणं तं खीणं, अणुदियं च उवसंतं।*

अर्थ—इसका ऊपर बतलाया जा चुका है। दूसरे औपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण इस प्रकार है—

*खीणंमि उइन्नम्मि अणुदिज्जंते य सेसामिच्छत्ते।*
*अंतोमुहुत्तमेत्तं उवसमसम्मं लहइ जीवो॥*

अर्थात्—उदय में आये हुए मिथ्यात्व का क्षय होने पर तथा शेष मिथ्यात्व के उदय में नहीं आने पर अन्तर्मुहूर्त्त मात्र के लिए जीव को उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण एकसा मालूम होता है, कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता फिर भी इन दोनों दर्शनों को अलग-अलग क्यों कहा गया है?

इस प्रकार की शंका होने पर विचिकित्सा आदि के द्वारा कलुषितता में पड़ कर श्रमण भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करता है।

इस शंका का समाधान इस प्रकार है—क्षयोपशम और उपशम का लक्षण एक नहीं; अलग-अलग है। अतएव इन दोनों से होने वाले सम्यक्त्व भी अलग-अलग हैं।

क्षयोपशम और उपशम में यह भेद है—क्षयोपशम में, उदय में आये का तो क्षय हो जाता है लेकिन जो उदय में नहीं आया है उसका विपाक से उपशम होता है मगर प्रदेश से उपशम नहीं होता। अर्थात् विपाक-अनुभव नहीं होता किन्तु प्रदेश-अनुभव होता है। जैसे क्लोरोफोर्म सुंघा कर चीरा देने से न मालूम होना। विपाक से अनुभव न होता है मगर प्रदेश से वेदना तो होती ही है। इसी प्रकार क्षयोपशम में विपाक-अनुभव बंद हो जाता है। तथापि प्रदेश-अनुभव होता है। उपशम-सम्यक्त्व में ऐसा नहीं होता। इसमें विपाक-अनुभव और प्रदेश-अनुभव दोनों ही नहीं होते।

उपशम-सम्यक्त्व में प्रदेश का अनुभव भी नहीं होता है। इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता हो तो वह इस प्रकार है—

*वेएइ संतकम्मं खओवसमिएसु नाणुभावं सो।*
*उवसंतकसाओ पुण, वेएइण संतकम्मंति ॥*

अर्थात्—क्षायोपशमिक भाव में विपाक का वेदन नहीं करता, प्रदेश अनुभव होता है। किन्तु उपशान्त कषाय वाला जीव विपाक-अनुभव और प्रदेश-अनुभव-दोनों का वेदन नहीं करता है।

इसके अतिरिक्त उपशम-सम्यक्त्व की स्थिति अन्तमुहूर्त्त मात्र की है और क्षयोपशम-सम्यक्त्व की छयासठ ( ६६ ) सागर की है। इस प्रकार यह दोनों दर्शन भिन्न-भिन्न हैं।

चारित्रान्तर का स्वरूप इस प्रकार है—सामयिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र अलग-अलग हैं। इनके विषय में यह शंका होती है कि इन दोनों का लक्षण तो एक-सा मालूम होता है फिर इन्हें अलग-अलग क्यों कहा है ? सामायिक चारित्र में सर्वसावद्य योग का त्याग और छेदोपस्थापनीय चारित्र में महाव्रत हैं, लेकिन महाव्रत भी सर्वसावद्य योग का त्याग ही हैं। फिर इन दोनों चारित्रों को अलग करने की क्या आवश्यकता थी ?

चारित्र के विषय में इस प्रकार की शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता द्वारा जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करता है।

चारित्र विषयक शंका का समाधान यह है—वास्तव में तो सामयिक चरित्र ही है लेकिन समय और प्रकृति के भेद से उनमें भेद किया है। पहले तीर्थङ्कर के साधु ऋजु-जड़ थे। उन्हें न समझाना कठिन था और न उन्हें आचरण करने में ही कठिनाई जान पड़ती थी। अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्र जड़ हैं। इन्हें समझाना भी कठिन है और आचरण करना भी उनके लिए कठिन है। यह काल का प्रभाव है। इन वक्र जड़ साधुओं को आश्वासन देने के लिए छेदोपस्थापनीय चारित्र बतलाया है, जिससे इनका कल्याण हो सके। कल्पना कीजिए—भारत का एक मनुष्य इंग्लैण्ड गया। भारत गर्म देश है और इंग्लैण्ड शीत प्रधान देश है। वहाँ उसे शीत का सामना करना

पड़ा । इस कारण वह घबड़ा गया । वह सोचने लगा— भारत में पहने जाने वाले इन वस्त्रों से शीत का सामना कैसे करूं ? इतने में किसी ने उसे आश्वासन दिया—हमने तुम्हारे लिए शीत से बचाने वाले वस्त्रों का प्रबंध कर रखा है। इसी प्रकार मध्य के बाईस तीर्थङ्कर के समय के विरुद्ध अन्तिम तीर्थङ्कर का समय जब हुआ तब ज्ञानियों ने आश्वासन दिया कि काल का पलटा देख कर घबराओ मत, हमने छेदोपस्थापनीयचारित्र की स्थापना कर दी है। इस चारित्र से वक्र-जड़ काल तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सकेगा ।

वक्र-जड़ साधु को पहले सामायिक चारित्र ही दिया जाता है और फिर सात दिन चार मास या छह मास बाद छेदोपस्थापनीय चारित्र यानी महाव्रत पढ़ाये जाते हैं। महाव्रत धारण करने के बाद यदि वक्रजड़ जमाने के प्रभाव से सामयिक में दोष लग भी जावे, तब भी इस विचार से शान्ति होगी कि मेरे महाव्रत सुरक्षित हैं।

अगर ऐसा न किया गया होता, सामयिक चारित्र ही धारण कराया गया होता और महाव्रत रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र धारण न कराया जाता, तो वक्रजड़ काल के प्रभाव से सामयिक चारित्र में दोष लग जाने पर साधु यही सोचता कि मेरे सामायिकचारित्र में दोष लगने से मेरा चारित्र ही नष्ट हो गया है। इसलिए आश्वासन दिया कि घबराओ मत। सामा-

यिक चारित्र में दोष लग गया है लेकिन तुम्हारा महाव्रत भंग नहीं हुआ है।

इस प्रकार सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र को अलग अलग करने का कारण यही है कि सामायिक चारित्र में दोष लग जाने पर भी मुनि एक दम घबरा न जाय। अगर दोष लग भी जाय तो फिर निशीथसूत्र इसी लिए है। छह मास के दण्ड तक तो छेदोपस्थापनीय चारित्र रहता है मगर इससे अधिक का दंड होने पर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार काल की विषमता से दो भिन्न-भिन्न चारित्रों की व्यवस्था की गई है।

टीकाकार आचार्य कहते हैं—यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कहता; इसके लिए प्रमाण मौजूद हैं। वह इस प्रकार—

*रिउवक्कजडा पुरिमेयराणा सामाइए वयारुहणं।*
*मणयमसुद्धेवि जओ, सामाइए हुंति हु वयाइं॥*

अर्थात्—पहले तीर्थङ्कर के साधु ऋजु जड़ और पिछले तीर्थङ्कर के वक्र जड़ होने के कारण छेदोपस्थापनीय चारित्र की स्थापना की है। क्योंकि सामायिक चारित्र में थोड़ा-सा दोष लगने पर भी व्रत रूप चारित्र का निभाव हो जाता है।

कांक्षामोहनीय के वेदन का चौथा कारण लिंगान्तर है। लिंग (वेष) के विषय में यह शंका होती है कि पहले और

अंतिम तीर्थङ्कर के सिवा बीच के बाईस तीर्थङ्करों ने अपने साधुओं के लिए जैसा मिले वैसा ही वस्त्र रखने की आज्ञा दी है। इन तीर्थङ्करों के शासन में वस्त्र सम्बन्धी कोई नियम नहीं था कि काले, पीले, सफेद या गेरुआ रंग के ही वस्त्र पहने जाएं, या कम मूल्य वाले पहने जाए अथवा अधिक मूल्य वाले पहने जाएं। इन तीर्थङ्करों के साधुओं को जब जैसा वस्त्र मिल जाता था तब तैसा ही पहन लेते थे। यह आदेश भी सर्वज्ञों का था। इस लिंग में भी संयम था। फिर प्रथम और अंतिम तीर्थङ्कर ने वस्त्रों का परिमाण और रंग क्यों नियत किया? अर्थात् यह क्यों कहा कि इतने ही वस्त्र रखना, कम कीमत के रखना और सफेद ही रखना! मध्य के तीर्थङ्करों द्वारा समर्थित वस्त्र वस्त्र मिलने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं थी। फिर यह नियम बनाकर साधुओं को कठिनाई में क्यों डाला गया? सर्वज्ञों के वचन में इस अन्तर का क्या कारण है? अगर साधु के लिए वस्त्र का परिमाण होना अनिवार्य है तो बाईस तीर्थङ्करों के साधुओं के लिए क्यों अनिवार्य न था? क्या वे साधु नहीं थे!

इस प्रकार की शंका होने पर विचिकित्सा और कलुषता द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान इस प्रकार है—महावीर और पार्श्व आदि तीर्थाङ्करों का सिद्धान्त एक ही है। इनके शासन में वेष का जो अन्तर दीखता है, वह कोई मौलिक सैद्धान्तिक

अन्तर नहीं है। गौतम स्वामी ने केशी मुनि से कहा था कि तत्व का निर्णय तत्व से होना चाहिए। वेष तत्व से पृथक है। तत्व सभी तीर्थङ्करों का एक ही है।

केशी श्रमण पार्श्वनाथ के साधु थे। अतएव उनके शिष्यों के विचित्र कपड़े थे और गौतम स्वामी महावीर के शिष्य थे अतः इनके शिष्यों के एक ही सफेद रंग के थे। इस पर से उन्हें संदेह हुआ कि पार्श्वनाथ और महावीर दोनों एक समान ही सर्वज्ञ थे, फिर उनके साधुओं में कपड़ों की यह भिन्नता क्यों पाई जाती है? फिर भी इन मुनियों ने अपने गुरु से निर्णय करना उचित समझा। इसी बीच केशी श्रमण और गौतम स्वामी का समागम हो गया। तब गौतम स्वामी ने केशी स्वामी से कहा—बाहर से दीखने वाला वस्त्रों संबंधी मतभेद कोई वास्तविक भेद नहीं है। वस्त्र, मोक्ष का अंग नहीं है। लोगों की दृष्टि जमाने को, उन्हें आकर्षित करने के लिए या पहचान के लिए लिंग की आवश्यकता होती है। पहले दूसरा जमाना था, अब वक्र-जड़ काल है। इसमें लिंग का विशेष भेद रखने पर ही साधु-असाधु की पहचान हो सकती है। इस जमाने में नियत वेश न रखने से कई प्रकार की अव्यवस्था होगी।

यहाँ गौतम स्वामी की उदारता कितनी आदर्श है कि वे अपने साधुओं को वक्र और जड़ प्रकट करते हैं और पार्श्वनाथ की परम्परा के साधुओं को ऋजुप्रज्ञ (सरल और बुद्धिशाली) बतलाते हैं।

तात्पर्य यह है कि जमाने को पलटा देखकर लिंग में विशेषता की गई है। यह बात इस उदाहरण से समझना सरल होगा—

एक श्वसुर के घर में दो बहुएँ थीं। सब बहुओं के साथ समान व्यवहार करना श्वसुर का कर्त्तव्य है लेकिन इन दो बहुओं की प्रवृति में बड़ा भेद था। एक बहू सभी काम काज मर्यादापूर्वक करती थी। खाना-पीना, लेन-देन आदि मर्यादा के साथ करती थी। उसे कितना ही सताया जाय मगर वह अपनी मर्यादा का उलंघन नहीं करती थी। दूसरी बहू ऐसी थी कि अगर उसके भरोसे घर छोड़ दिया जाय तो वह जल्दी ही घर को फूँक दे। बहुओं का यह प्रकृतिभेद समझकर श्वसुर ने पहली बहू से कहा—बहू, यह घर तेरा ही है। तू जैसा चाहे वैसा कर। दूसरी बहू के लिए खाना-खर्च नियत कर दिया। यद्यपि श्वसुर को किसी बहू के प्रति पश्चाताप नहीं है, फिर भी घर की रक्षा करने के लिए उसने दूसरी बहू के वास्ते यह नियम बना दिया। पहली बहू की प्रकृति अच्छी थी। उसके लिए कोई नियम बाँधना जरूरी नहीं था।

इस दृष्टान्त की तरह ही पार्श्वनाथ भगवान के साधु ऋजुप्रज्ञ थे। वे प्राण जाने पर भी अपना नियम नहीं छोड़ते थे। उनके मन साफ थे। इसलिए उनके लिए कपड़ों का कोई नियम नहीं था। उन्हें छुट्टी थी—जैसा मिले वैसा ही कपड़ा ले लो। जब वक्र जड़ जमाना आया तो नियम बनाना पड़ा

कि परिमित सफेद वस्त्र ही लिया जा सकता है। इस प्रकार काल की विषमता से लिंग में विशेषता हुई है।

लिंगान्तर के पश्चात् प्रवचनान्तर है। प्रवचन का अर्थ आगम है। वचन दो प्रकार के होते हैं— वचन और प्रवचन। साधारण आदमी के कहे हुए वचन, वचन कहलाते हैं और रागादि शत्रुओं को जीतने वालों के वचन प्रवचन कहलाते हैं। अथवा साधारण लोक व्यवहार संबंधी भाषा को वचन कहते हैं और लोकोत्तर विषय संबंधी वीतरागवाणी प्रवचन कहलाती है। उदाहरणार्थ—एक न्यायाधीश अपने घर में स्त्री-पुत्रों से जो शब्द बोलता है, वे शब्द वचन कहलाते हैं। लेकिन वही न्यायाधीश जब न्यायालय में न्यायासन पर आसीन होता है और वादी-प्रतिवादी की बातें सुनकर निर्णय रूप में जो शब्द बोलता या लिखता है वे फैसला कहलाते हैं। क्योंकि उन शब्दों से वादी-प्रतिवादी का हानि लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान ने तत्वों का निचोड़ करके जो आत्महितकारी निर्णय दिये हैं वह प्रवचन कहलाते हैं।

प्रवचन के विषय में इस प्रकार शंका हो सकती है—पार्श्वनाथ आदि तीर्थङ्करों के भी प्रवचन हैं और ऋषभदेव एवं महावीर के भी प्रवचन हैं। सभी तीर्थङ्कर वीतराग और सर्वज्ञ थे। इन प्रवचनों के विषय में शंका यह है कि बीच के बाईस तीर्थङ्करों ने तो चार महाव्रतों का प्रतिपादन किया है और प्रथम एवं चरम तीर्थङ्कर ने पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया है।

यह भेद क्यों है ? इन सर्वज्ञों के वचन में विरोध प्रतीत होता है, इसीलिए किसे प्रमाण माना जाय ? अगर बीच के तीर्थङ्करों को सर्वज्ञ मानें तो प्रथम और चरम तीर्थङ्कर असर्वज्ञ ठहरते हैं। यदि यह दोनों सर्वज्ञ हैं तो बीच के तीर्थङ्कर सर्वज्ञ नहीं रहते। न मालूम क्या सत्य है ?

इस प्रकार शंका होने पर कांक्षा और कलुषता आदि द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान यह है—बीच के बाईस तीर्थङ्करों ने चार व्रत रूप जो धर्म कहा है, वह पाँच व्रत रूप ही समझना चाहिये। इन चार व्रतों में पाँचों व्रत अन्तर्गत हो गये हैं। बीच के तीर्थङ्करों ने संक्षेप में चार व्रत कहे हैं और प्रथम तथा चरम तीर्थङ्कर ने विस्तार से कथन किया अतएव पाँच व्रतों का निर्देश किया। मध्य के बाईस तीर्थङ्करों ने चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रहविरमण व्रत में अन्तर्गत किया है और प्रथम तथा चरम तीर्थङ्कर ने उसे पृथक् रख कर अलग नाम दिया है।

बाईस तीर्थङ्करों ने मैथुन विरमण को परिग्रहविरमण से अलग नहीं बतलाया है, क्योंकि—

योषा हि नाऽपरिगृहीता भुज्यते।

अर्थात्–अपरिगृहीत बिना ग्रहण की हुई अर्थात् जिस स्त्री को स्वीकार नहीं किया है वह भोगी नहीं जाती। परिगृहीता स्त्री ही भोगी जाती है।

मतलब यह है कि चार व्रतों की स्थापना करने वालों ने परिग्रह का निषेध किया है और उसी में स्त्री का भी निषेध हो जाता है। इसलिए स्त्री का त्याग रूप व्रत अलग नहीं बतलाया है। इस दृष्टि से सोचने पर तीर्थङ्करों के प्रवचन में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता। विरोध उस हालत में होता जब चार व्रतों की स्थापना करने वाले तीर्थङ्कर स्त्री संसर्ग का अनुमोदन करते। मगर ऐसा नहीं है। अतएव विरोध की गुंजाइश नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब परिग्रह में स्त्री का समावेश हो जाता है और परिग्रह का त्याग बतला दिया था तो फिर मैथुन त्याग को अलग बताने की क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर यह है कि अब वक्र और जड़ जमाना आया है। कदाचित कोई यह भी कुतर्क करने लगे कि बिना ममत्व आसक्ति के स्त्री संसर्ग करने में क्या हर्ज है ? ऐसी कुतर्कणाओं को दूर करने के लिए मैथुन त्याग व्रत अलग बतला दिया गया है।

पहले और अन्तिम तीर्थंकर के समय में पाखण्ड बहुत फैला था। सूयगडांग सूत्र में उस समय के पाखण्ड मत का वर्णन करते हुए कहा है:—

इस प्रकार का पाखण्डमत फैल रहा था। यह दोष जैन धर्म में भी न आजावे, इसके लिए स्त्री त्याग व्रत को अलग

बना दिया है। जब लोग सरल बुद्धि और प्राज्ञ थे, तब चार महाव्रतों से ही मैथुन का त्याग हो जाता था। जब लोग वक्रबुद्धि और जड़मति होने लगे तो पाँच महाव्रत बतलाये गये। यह कोई वास्तविक मतभेद नहीं है।

प्रवचन का अध्ययन करने वाला अर्थात् जो कालानुसार बहुश्रुत हो वह प्रावचनिक कहलाता है। पहले समय में बहुसूत्री पुरुष पूर्वधारी भी होते थे लेकिन यह बात सदा के लिए नहीं है। समय के अनुसार बहुत श्रुतों का ज्ञाता ही उस समय बहुश्रुत कहलाता है।

बहुश्रुत पुरुषों में मतभेद देखकर शंका में पड़ जाने से कलुषता आदि दोष उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण बहुसूत्री पुरुषों में मतभेद हो जाता है। किसी का क्षयोपशम विशेष निर्मल होता है, किसी का उतना निर्मल नहीं होता। इस कारण चारित्र में भेद पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त उत्सर्ग और अपवाद, यह दो मार्ग हैं। इन दो मार्गों के कारण भी बहुसूत्री पुरुषों की स्थापना में भिन्नता आ जात है।

प्रश्न हो सकता है कि इन दोनों की स्थापना में कौनसी स्थापना प्रमाण मानी जाय ? इस प्रश्न का समाधान यह है

कि दोनों में से किसी एक को अन्दाज से ही प्रमाण मानना उचित नहीं है। दोनों की स्थापना को आगम से मिलाकर जाँचना चाहिए। जो आगमानुसार हो उसे ही प्रमाणभूत समझना चाहिए।

उत्सर्ग और अपवाद शास्त्रानुमोदित मार्ग हैं। उत्सर्ग मार्ग में साधु नदी का पानी छूता भी नहीं है लेकिन अपवाद मार्ग में नदी उतरता भी है। दो साधुओं में से एक नदी नहीं उतरा और दूसरा आवश्यकता समझ कर अपवाद मार्ग का आश्रय लेकर नदी उतरा। एक तीसरा देखने वाला आदमी इन दोनों का विभिन्न आचरण देखकर चक्कर में पड़ गया। उसने सोचा—इन दोनों में से किसका व्यवहार ठीक समझना चाहिए? निर्णय करने के लिए उसने आगम देखा। दशवैकालिकसूत्र में साधु को कच्चे पानी का स्पर्श करने का निषेध किया गया है, किन्तु आचारांगसूत्र में अपवाद रूप से नदी उतरने का कथन पाया जाता है। अतएव दोनों का ही व्यवहार शास्त्र से विपरीत नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार आगम की कसौटी पर कसने से जिस बहुश्रुत पुरुष का कथन आगम के अनुकूल हो वह ठीक है। जिसका कथन आगम से प्रतिकूल हो वह मान्य नहीं हो सकता।

किन्तु अपवाद या उत्सर्ग का नाम लेकर कोई मनचाहा सिद्धान्त प्रचलित करना चाहे तो वह अनुमोदनीय नहीं है। आगम ही इस विषय में अभ्रान्त कसौटी है। इस काल में

आगम ही अंतिम निर्णायक है। आगम से जो विधान प्रतिकूल है वह न उत्सर्ग है, न अपवाद है। उदाहरणार्थ--अगर कोई यह स्थापना करे कि उत्सर्ग मार्ग में साधु को स्त्री संसर्ग करना निषिद्ध है लेकिन अपवाद मार्ग में हर्ज नहीं है। ऐसी स्थापना के लिए स्थापना करने वाले से पूछना चाहिए कि किस आगम के आधार पर ऐसी प्ररूपणा की जाती है? अगर तुम्हारी स्थापना को आगम का आधार नहीं है तो वह मान्य नहीं हो सकती।

सारांश यह है कि प्रावचनिकों में मतभेद देखकर किसी प्रकार की शंका नहीं करना चाहिए किन्तु आगम में प्रमाण देखकर निर्णय कर लेना चाहिए कि किसका कथन ठीक है। जो अपनी बात के लिए आगम का प्रमाण बतलावे उसकी बात मानने योग्य है। जो न बतलावे उससे स्पष्ट कहना चाहिए कि आगम-प्रमाण के अभाव में हमें यह बात मान्य नहीं है।

कई बातें ऐसी होती हैं जिनके संबंध में आगम में स्पष्ट उल्लेख नहीं पाया जाता। इसके लिए भगवतीसूत्र में और व्यवहारसूत्र में पाँच व्यवहार बतलाये हैं। जब आगम व्यवहार चलता हो, दशपूर्वधारी तक मुनि विचरते हों, तब उनकी आज्ञा मान्य है। दशपूर्वधारियों के अभाव में, सूत्रों में जो लिखा हो वह मान्य होता है। कोई अपनी परम्परा का समाचारी का आग्रह करे तो सूत्र की बात के विरुद्ध परम्परा को

समाचारी नहीं चल सकती। जब सूत्र में कोई स्पष्ट बात न हो तब परम्परा की समाचारी मानना चाहिए। परम्परा की समाचारी भी न हो तो धारणा को मानना चाहिए और जब धारणा भी न हो तो लोक और लोकोत्तर आचार से अविरुद्ध जित-आचार, जिसकी स्थापना बहुत आचार्यों ने मिल कर की हो, मान्य है। यह जित-आचार भी भगवान् की आज्ञा में है।

प्रावचनिक के आगे कल्पान्तर की बात आती है। कोई मुनि जिनकल्पी और कोई स्थविर कल्पी हैं। दोनों के आचार में अन्तर भी है। इन दोनों के कल्प देखकर शंका हो जाती है और कांक्षा, विचिकित्सा, कलुषता आदि द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

कल्प के विषय में शंका इस प्रकार होती है—जिनकल्पी मुनि नग्न रहते हैं। नग्न रहने में बड़ा कष्ट होता है। उनके कल्प में यह कष्ट सहन कर्म क्षय के लिए है। इस पर शंका होती है कि नग्न रहकर कष्ट सहन करना ही अगर कर्मक्षय का कारण है तो स्थवीर कल्पी मुनि वस्त्र-पात्र आदि का परिभोग करते हैं, इन्हें जिनकल्पी की भाँति कष्ट नहीं होता, फिर इनका कल्प कर्मक्षय का कारण किस प्रकार हो सकता है? अगर स्थविरकल्प भी कर्मक्षय का कारण है तो फिर नग्न रहने का उपदेश क्यों दिया गया है?

यही दिगम्बर-श्वेताम्बर का झगड़ा है। कई लोग हठ में पड़कर कहते हैं कि कपड़े रखने वाला साधु नहीं हो सकता और कई इसके विपरीत कहते हैं कि कपड़े न रखने वाला—नग्न रहने वाला साधु नहीं हो सकता। यह झूठी खींचतान है। अगर कपड़े रखने में साधुत्व न होता और जिन शास्त्रों में कपड़ा रखने का विधान है वे शास्त्र बाद में रचे गये होते तो श्वेताम्बर शास्त्रों में लिखा होता कि कपड़ा न रखने में साधुत्व नहीं है। लेकिन श्वेताम्बर शास्त्रों में कपड़ा रखने और न रखने-दोनों में ही साधुपना माना गया है।

इस शंका का समाधान यह है कि सर्वज्ञ भगवान ने जो उपदेश दिया है जो कल्प कहलाता है। उसमें कोई भेद नहीं है। कर्म का क्षय दोनों कल्पों से होता है। अवस्था और शक्ति के भेद से यह दोनों कल्प अलग-अलग हैं, मगर कर्म का क्षय दोनों से होता है। जिनकल्पी साधु में यह कल्प पालने की शक्ति है, और स्थविर कल्पी में वस्त्र न रखने की शक्ति नहीं है। या काल के भेद से उन्हें वस्त्र-पात्र न रखने में असुविधा प्रतीत होती है, तो स्थविर कल्पी रहकर वस्त्र-पात्र रखने में भी हर्ज नहीं है। अवस्था और काल के अनुसार दोनों कल्प कर्मक्षय के कारण हैं। इसके अतिरिक्त कष्ट सहना ही कर्मक्षय का कारण नहीं है। साधुता मूलगुण है और कष्ट सहना उत्तर गुण है। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए, कोई साधु मास खमण का पारणा करता है। दूसरा साधु ऐसा तो नहीं करता

किन्तु संयम अच्छी तरह पालता है। जो मास खमण की तपस्या करता है वह उत्तरगुण की वृद्धि करता है लेकिन जो साधु मास खमण की तपस्या नहीं करता, इसके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह मूल गुण साधुता का पालन नहीं करता है। बल्कि ऐसा भी होता है कि मासखामण करने वाले उसी भव में मोक्ष नहीं जाते और कई न करने वाले उसी भव में कर्मक्षय करके मोक्ष को चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त जिस मुनि पर संघ तथा धर्म की सेवा का बोझ है, वह यदि भोजन न करेगा तो उससे काम कैसे हो सकेगा? उसके लिए तो अन्न खाकर वैयावृत्य करना ही उचित है। अगर वह ऐसा नहीं करता तो भगवान की आज्ञानुसार वह आराधक नहीं होता, बल्कि कृतघ्न और महामोहनीय कर्म बाँधने वाला है। जो मुनि तपस्या का नाम लेकर बैठ जाता है और अपनी जिम्मेदारी की वैयावृत्य नहीं करता उसे भगवान ने आराधक नहीं कहा है।

कल्पना कीजिए संवत्सरी के दिन दो श्रावकों में से एक ने विचार किया--'आज मुझे पोसा (पौषधोपवास) करना था, लेकिन मेरे जिम्मे पशुओं को घास पानी देना है। अगर मैं उन्हें घास-पानी न दूंगा तो वह भूखे रहेंगे। दूसरे श्रावक ने सोचा--'आज मैं भूखा रहूंगा और इसी प्रकार मेरे संरक्षण के पशु भी भूखे रह जाएँगे। उन्हें भी निर्जरा धर्म की प्राप्ति होगी। इस प्रकार विचार कर दूसरे श्रावक ने पोसा किया

और उसने पोसा नहीं किया। पहले श्रावक ने सोचा--किसी और को भूखे मारना भगवान की आज्ञा में नहीं है। मुझसे जितना होगा उतना प्रतिक्रमण आदि करूँगा, लेकिन पशुओं को भूखा नहीं मारूंगा।

संध्या समय दोनों श्रावक साधु के पास पहुंचे। दोन ने अपने-अपने विचार साधु के सामने उपस्थित किये और पूछा हम दोनों में कौन आराधक है और कौन विराधक है? साधु यह उत्तर देंगे--भगवान ने श्रावक के स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत के पाँच अतिचार बतलाये हैं। यह व्रत मूलगुण है। बिना मूलगुण के उत्तर गुण ठीक नहीं रहता। श्रावक के बारह व्रतों में पाँच मूल गुण हैं, तीन गुणव्रत हैं और चार शिक्षाव्रत हैं। मूल गुण को छोड़देना और उत्तर गुण को ले बैठना ठीक नहीं है।

साधु ने कहा—पहला व्रत मूलगुण है। भगवान ने आनन्द श्रावक से इस पहले व्रत की पाँच मर्यादाएँ बतलाकर कहा है—इन मर्यादाओं का उलंघन करने से व्रत का नाश हो जाता है। वह मर्यादाएँ हैं—बंध, वध, छविच्छेद, अतिभारारोपण और भक्तपान-विच्छेद। अपने आश्रित को भात पानी न देने से श्रावक को अतिचार लगता है। जिसने अपने आश्रित पशुओं के भोजन-पानी की उपेक्षा करके पोषा किया, भात-पानी न देने के कारण उसे हिंसा हुई। उसके मूल गुण को

भंग हो गया। जिसने अपनी जवाबदारी का काम करके अपने आश्रित पशुओं को भोजन पानी दिया है और पोषा नहीं किया है, उसने अपने मूलव्रत का पालन किया है। पोषा न करने से पहले व्रत में अतिचार नहीं लगता, वरन् भोजन-पानी न देने पर अतिचार लगता है। अतएव पहला श्रावक आराधक है और दूसरा विराधक है। करुणाभाव उठ जाने पर फिर कोई धर्म नहीं ठहरता।

मतलब यह है कि कर्म का क्षय कष्ट सहने और कष्ट न सहने मात्र से ही नहीं होता। कष्ट सहन के लिए अपनी शक्ति का और संघ की शक्ति का विचार न करना भगवान का मार्ग नहीं है। निर्ग्रन्थपन मूलगुण है और कष्ट सहना उत्तरगुण है। जैनधर्म यह नहीं कहता कि कोई काम अपनी शक्ति से अधिक करो। इस प्रकार दोनों कल्पों का लक्ष्य एक ही है। कल्पभेद से शंका, कांक्षा आदि में न पड़कर जिनदेव की मूल आज्ञा का विचार करना चाहिए।

कल्पान्तर के पश्चात् मार्गान्तर है। मार्ग का अर्थ है-- परम्परा से चली आती हुई समाचारी-पद्धति। उस समाचारी में किसी की समाचारी दो चैत्यवंदन और अनेक प्रकार के कायोत्सर्ग रूप है और किसी की समाचारी ऐसी नहीं है। आजकल भी कोई पक्खी के दिन बारह 'लोगस्स' गिनकर कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण करता है कोई कम 'लोगस्स' गिनकर।

इस प्रकार का अन्तर देखकर शंका हो जाती है कि न मालूम कौन-सी समाचारी सच्ची है ?, और न जाने किस समाचारी से मोक्ष होता है ? इस प्रकार की शंका होने से कांक्षा; विचिकित्सा और कलुषता द्वारा मोहनीय कर्म का वेदन होता है।

यहाँ पर 'चैत्यवन्दन' का जो उल्लेख किया गया है, उसे देखकर कई लोग हठ करके कहते हैं कि मूर्तिवन्दन ही चैत्यवन्दन है। लेकिन यह बात ठीक नहीं है। ऐसा कहने वालों के माने हुए आचार्यों द्वारा ही इसका खंडन हो जाता है। उनके आचार्यों द्वारा रचे हुए चैत्य वन्दन के भाष्य में लिखा है कि तीन वार नमस्कार मंत्र का जाप करना चैत्यवन्दन कहलाता है।

आवश्यक समाचारी के अन्तर्गत आये हुए चैत्यवन्दन का अर्थ अगर मूर्तिवन्दन ही होता हो तो फिर कहना होगा कि प्रत्येक साधु को अपने साथ एक-एक मूर्ति भी रखनी चाहिए। अतएव चैत्यवन्दन का अर्थ, मूर्तिवन्दन करना ठीक नहीं है। 'लोगस्स' का ध्यान करना ही उपयुक्त अर्थ है और यही समाचारी में है भी।

मार्गान्तर विषयक शंका का समाधान यह है कि सब की समाचारी ठीक है। क्योंकि समाचारी के प्रवर्त्तक, गितार्थ और सरल हैं तथा सब समाचारियाँ आचरित लक्षण से युक्त हैं। आचरित लक्षण का आशय बतलाने के लिए कहा गया है कि—

असठेण समाइराणं जं कत्थइ केणइ असावज्जं ।
न निवारयिमन्नेहिं, बहुमणु मयमेयमायरियं ॥

अर्थात्--सरल भाव वाले, निष्कपट पुरुष ने जिसका आचरण किया हो, जिसका शास्त्र में किसी स्थल पर निषेध न किया गया हो, जो असावद्य-निष्पाप हो, तथा बहुजन द्वारा अनुमत हो, उसे आचरित कहते हैं।

अगर चैत्यवन्दन का अर्थ मूर्तिवन्दन किया जाय तो फिर इस समाचारी में आचरित लक्षण नहीं घट सकता, क्योंकि फूल-माला द्वारा मूर्तिपूज्य करना असावद्य नहीं सावद्य है। साथ ही द्रव्यपूजा का साधुओं के लिए स्थान-स्थान पर निषेध किया गया है। अतएव चैत्यवन्दन का अर्थ मूर्तिवन्दन नहीं किन्तु 'लोगस्स' का ध्यान करना है।

आशय यह है कि वास्तविक समाचारियों में जो अन्तर दिखलाई देता है उनमें से किसी की समाचारी झूठी नहीं है। चाहे कोई चार 'लोगस्स' गिनकर कायोत्सर्ग करे, चाहे बारह गिनकर करे, चाहे बीस गिनकर। 'लोगस्स' गिनना कोई बुरा नहीं मानता। 'लोगस्स' एक पवित्र पाठ है, उसे जो जितना गिने उतना ही अच्छा है। किसी ने ज्यादा स्थिरता देखी तो ज्यादा 'लोगस्स' गिनने का नियम बनाया; किसी ने कम देखी तो कम गिनने का। इसमें कोई बुराई की बात नहीं है, अतएव सब की समाचारी प्रमाण है।

अब कुछ दिनों से संवत्सरी एक होने लगी है। पहले आगे-पीछे होती थी। कोई एक दिन पहले करता था, कोई एक दिन बाद। कोई एक मास पहले करता था, कोई मास पश्चात् लेकिन भगवान ने कहा है कि चातुर्मास लगने से एक मास बीस दिन पश्चात् संवत्सरी करना चाहिए। संवत्सरी होने पर चातुर्मास के सत्तर दिन शेष रह जाते हैं। आचार्यों का कथन है कि चातुर्मास कम से कम चार महीनों का, मध्यम पाँच महीनों का और अधिक से अधिक छह महीनों का होता है। अधिक मास चातुर्मास के मध्य में नहीं आता था, लेकिन आज जैन पंचांग नहीं है, इसीलिए इतना कह देना भर पर्याप्त नहीं है। अतएव आचार्यों का कथन ही ठीक है। संवत्सरी के अन्तर के कारण झूठा कोई नहीं है। सब सच्चे हैं। सभी का उद्देश्य सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना है। अतएव आगे-पीछे करने वाले सभी भगवान की आज्ञा के आराधक हैं। अलबत्ता मेल करके एक साथ संवत्सरी करना सर्वश्रेष्ठ है।

मार्गान्तर के पश्चात् मतान्तर है। एक ही विषय में आचार्यों का भिन्न-भिन्न मत होना मतान्तर कहलाता है। यह मतविभिन्नता देखकर शंका करना और फिर एकान्त पकड़कर कांक्षा, विचिकित्सा कलुपता द्वारा—कौन सच्चा है और कौन झूठा है, इस प्रकार की गड़बड़ में पड़ने से कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

मतान्तर किस प्रकार होता है, इसके लिए एक उदाहरण दिया गया है—श्री-सिद्धसेन दिवाकर और जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण, दोनों बड़े विद्वान् आचार्य हुए हैं। इन दोनों में एक विषय पर मतभेद हो गया। सिद्धसेन दिवाकर का कथन है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ ही होता है। अगर ऐसा न माना जाय तो अनेक दोष आते हैं। यथा-जिस समय केवलज्ञान का उपयोग हो रहा है उस समय केवलदर्शन का उपयोग न माना जाय तो पूछा जा सकता है कि केवलज्ञान के उपयोग के समय केवलदर्शनावरण कर्म का उदय है या क्षय? केवलदर्शनावरण का उदय तो केवली में नहीं माना जा सकता। फिर भी अगर केवलदर्शन का उपयोग नहीं होता तो उस समय केवलदर्शनावरण का क्षय निरर्थक ही माना जायगा। इसके अतिरिक्त केवली केवलज्ञान के समय, अगर केवलदर्शन के ज्ञेय को नहीं जानते तो असर्वज्ञ हो जाएँगे। इसी प्रकार अगर केवलदर्शन के उपयोग के समय केवलज्ञान के ज्ञेय को नहीं जानते तब भी असर्वज्ञता का प्रसंग आएगा। अतएव दोनों का एक साथ उपयोग मानना ही युक्तिसंगत है।

जिनभद्र गणि-क्षमाश्रमण का कथन है कि दोनों भिन्न-भिन्न समय-समय में होते हैं, क्योंकि जीव का स्वभाव ही ऐसा है। जीव जब सामान्य देखता है तो उसे विशेष का ज्ञान नहीं होता और जब विशेष का ज्ञान होता है सामान्य को नहीं देखता। जीव का ऐसा ही स्वभाव है। जैसे मतिज्ञानावरण और श्रुत-

ज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम एक साथ ही होने पर भी दोनों का उपयोग एक साथ नहीं होता। जब मतिज्ञान का उपयोग होता है तब श्रुतज्ञान का नहीं और जब श्रुतज्ञान का उपयोग होता है तब मतिज्ञान का नहीं। एक ज्ञान का उपयोग होने पर दूसरे का क्षयोपशम मिट जाता हो, ऐसी बात भी नहीं है। अतएव जैसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, दोनों एक साथ क्षयोपशम होने पर भी क्रमपूर्वक ही होते हैं, उसी प्रकार केवलदर्शन और केवलज्ञान भी क्रमपूर्वक ही होते हैं।

मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की स्थिति ६६ सागरोपम की है। अगर एक के उपयोग के समय दूसरे का उपयोग निरर्थक मान लिया जाय तो ६६ सागरोपम पूरे न होंगे और स्थिति में कमी माननी पड़ेगी।

विशेषावश्यक भाष्य में इस चर्चा का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। सिद्धसेन दिवाकर ने क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञानों का अन्तर दिखलाते हुए दोनों का खूब विचार किया है। जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ने भी बहुत विचार किया है। इस विषय को लेकर दोनों आचार्यों में खूब प्रश्नोत्तर हुए हैं। अतएव इस प्रकार के मतभेद को देखकर शिष्यगण शंका में पड़ जाते हैं और कांक्षा, विचिकित्सा में पड़कर कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसा मतभेद होने पर हमें क्या करना चाहिए? इस संबंध में शास्त्र कहता

है कि अगर किसी पक्ष का युक्ति के बल से विधिनिषेध न किया जासके तो शास्त्र से मिलान करो। जो पक्ष शास्त्र-संगत हो उसे स्वीकार कर लो।

उक्त प्रश्नोत्तर के संबंध में, पन्नवणासूत्र में कहा है कि केवली भगवान जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं हैं और जिस समय जानते हैं, उस समय देखते नहीं हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन का एक साथ उपयोग होना शास्त्र को अभीष्ट नहीं है। शास्त्र में दोनों का उपयोग अलग-अलग समय में बतलाया गया है। अतएव जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण की बात शास्त्रानुकूल है।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि किसी मत-भेद के विषय में शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख न मिले तो किस प्रकार निर्णय करना चाहिए। इस संबंध में कहा गया है कि किसी पक्ष का आग्रह न करके-जिस बात का निर्णय समझ में न आवे उसके लिए कहना चाहिए कि जिन भगवान की कही हुई बात ही सत्य है। 'नान्यथावादिनो जिनाः' अर्थात् जिनेन्द्र भगवान अन्यथा भाषण नहीं करते। बड़े-बड़े आचार्यों का पारस्परिक मतभेद कुछ भी क्यों न हो लेकिन जो आदमी सत्य झूठ का निर्णय नहीं दे सकता, जो बहुसूत्री नहीं है, उसे यह समझना चाहिए कि आचार्यों में यह मतभेद सम्प्रदाय (परम्परा) के कारण है; जिन भगवान का मत तो एक ही है—भिन्न-भिन्न प्रकार का नहीं हो सकता। उनके मत में मत-

भेद नहीं है। जब विवादास्पद बात के विषय में आगम में कुछ भी निर्णय न प्रतीत हो तब यही भावना करनी चाहिए कि जिन भगवान का कथन ही सत्य है। 'तत्वं केवलिगम्यम्।'

जैनधर्म में ही विवादास्पद बातों के विषय में ऐसा नहीं कहा गया है किन्तु संसार के समस्त धर्मों में ऐसा ही है। जैनधर्म में तो छोटी-सी बात में ही मतभेद हो सकता है लेकिन महाभारत और वेदों में तो बड़ी-बड़ी शंकाएँ हो सकती हैं। फिर भी अन्त में यही कहा जाता है कि जो बात हमारी समझ में नहीं आती है, उसका विचार महापुरुष करेंगे।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की मत विभिन्नता की बातों के संबंध में या तो शास्त्रों से निर्णय करना चाहिए या भगवान पर उन्हें छोड़ देना चाहिए। ऐसा निराग्रह निर्णय करने से कर्म का बंध न होगा।

धर्म के नाम पर ठगाई भी बहुत चलती है। कई लोग नीतिविरुद्ध कार्यों को भी धर्म में परिगणित कर लेते हैं और इस प्रकार उसका समर्थन करते हैं कि दूसरे लोग भी ऐसे कामों में धर्म मानने लगे। जैसे-कुछ लोलुप लोगों ने मांस, मदिरा और मैथुन सेवन करने में भी धर्म मान लिया है। मगर ज्ञानी जन कहते हैं कि-तुम इन झगड़ों में मत पड़ो। वही बात मानो जो वीतराग ने कही है। वीतराग की वाणी सत्य क्यों है, इस विषय में कहा है:—

*अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जुगप्पवरा ।*
*जियराग-दोस-मोहा य णएणहा वाइणो तेणं ॥*

अर्थात्—जिन लोगों ने किसी प्रकार का उपकार नहीं किया है, उन लोगों पर भी अनुग्रह करने में परायण रहते हैं—उनका भी कल्याण किया करते हैं, युग प्रधान होते हैं और राग-द्वेष, मोह पर पूरी तरह विजय पाने वाले हैं, इस लिए जिन भगवान मिथ्या कदापि नहीं बोल सकते।

दूसरे के उपकार के बदले में अनुग्रह करना विशेषत नहीं है। विशेषता इसी में है कि जिन्होंने उपकार नहीं किया उन पर भी अनुग्रह किया जाय। जिन भगवान उपकार न करने वाले का भी उपकार करते हैं। इतना ही नहीं, वरन अपकार करने वाले का भी उपकार ही करते हैं। चण्डकौशिक ने भगवान को दाँत लगाये, काटभी खाया, फिर भी—

*नाथ विना विगरी कौन सुधारे ।*

*साधु सरोषो भयो चण्डकोशी, पन्नग महा दुखदाई रे ।*
*डंक दिया तब प्रभु प्रतिबोधा, दिया स्वर्ग सुखदाई रे ॥ विगरी० ॥*

भगवान महावीर में चण्डकौशिक के विष को सहन करने की शक्ति के साथ ही ऐसी शक्ति भी थी कि अगर वे उसकी ओर क्रोध की नजर से देख भी लेते तो भी वह भस्म हो जाता भगवान उसी समय चंडकौशिक को उसके अपराध की

सज़ा दे सकते थे। लेकिन भगवान चाहकर स्वयं उसकी बाँबी पर गये। लोगों ने मना किया, फिर भी वे न माने। उन्होंने परानुग्रहपरायणता से उसके यहाँ जाकर, उससे डंक लगवा कर भी उसे बोध दिया।

सूर्य किसी की विनय-भक्ति से प्रसन्न होकर प्रकाश नहीं देता किन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह विनयभक्ति करने वाले को और निन्दा करने वाले को दोनों को प्रकाश देता है। सूर्य द्रव्य प्रकाश करता है और भगवन इसी प्रकार ज्ञान का भाव प्रकाश करते हैं।

भगवान महावीर से पहले, लोगों में हाहाकार मचा हुआ था। औरों की बात छोड़िए एक चंडकौशिक से ही बहुत लोग घबराये हुए थे। भगवान ने सब लोगों का दुःख दूर करने के लिए ही स्वयं कष्ट सहे थे और इन्द्र द्वारा पूजित होने पर भी अपने आपको चंडकौशिक से कटवाया था।

आज कई लोगों में परोपकार की भावना कम है। उन पर दूसरों का जो ऋण है, उसे भी वे नहीं समझते। उन से यह भी तो नहीं होता कि उपकार का बदला ही चुका दें। यद्यपि दया बदले के लिए नहीं की जाती। किसी का कोई उपकार चढ़ा हो तो उसका बदला देने के लिए दया नहीं की जाती है, फिर भी किसी का उपकार न मानना कृतघ्नता है। जिनका हृदय दया से भरा हुआ है वे बदले की आशा से दया

नहीं करेंगे। वे तो सर्वथा निरपेक्ष एवं निस्पृह भाव से दया करते हैं। सच्ची दया है भी यही। निस्वार्थ बुद्धि से दूसरे का हित करना ही सच्ची दया है। ऐसी दया करने वाले परोपकारपरायण कहलाते हैं।

मतलब यह है कि जिसका मत सम हो, जिसमें राग-द्वेष न हो उसका ही मत मानना चाहिए। जो राग-द्वेष को जीत चुके हैं, ऐसे अर्हन्त के वचन झूठ नहीं हो सकते। इसलिए मतभेद के समय शास्त्र से निर्णय करना चाहिए। अगर शास्त्र से भी किसी बात का स्पष्ट समाधान न मिलता हो तो उसे अर्हन्त के ऊपर छोड़ देना चाहिए। शंका, कांक्षा आदि कर के मोहनीय कर्म का बंध—वेदन नहीं करना चाहिए।

मतान्तर के पश्चात् कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का कारण भंगान्तर है। भंगान्तर का अर्थ है—भांगों का अन्तर। भांगों में अन्तर देख कर शंका हो जाती है और फिर कांक्षा, विचिकित्सा द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

भंगों के विषय में शंका इस प्रकार होती है—

( १ ) द्रव्य से हिंसा, भाव से नहीं।

( २ ) भाव से हिंसा, द्रव्य से नहीं।

( ३ ) द्रव्य से भी हिंसा नहीं, भाव से भी हिंसा नहीं।

( ४ ) द्रव्य से भी हिंसा और भाव से भी हिंसा।

यह हिंसा सम्बन्धी चार भंगे हैं। इनमें से पहले भाँगे के लिए यह शंका होती है कि उसमें हिंसा का लक्षण नहीं घटता, फिर उसे हिंसा कहने का क्या प्रयोजन है ? द्रव्य से हिंसा हो पर भाव से न हो तो वह हिंसा नहीं कहलाती ! जैसे मुनि ईर्या समिति से देखकर चलते हैं, फिर भी उनके पैर से कीड़ी मर जाय तो मुनि को कीड़ी मारने की हिंसा नहीं लगती। इसी प्रकार भावहीन द्रव्यहिंसा में हिंसा का लक्षण घटित नहीं होता। हिंसा का लक्षण इस प्रकार है:—

*जो उ पमत्तो पुरिसो, तस्स उ जोगं पडुच्च जे सत्ता।*
*वावज्जंति नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ॥*

अर्थात्—जो पुरुष प्रमादी है, अहंकार, विषय-कषाय आदि प्रमादों का वशवर्त्ती है, उसके योग द्वारा प्राणी की जो हिंसा होती है; उसे नियम से हिंसा समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रमाद के योग से जीव का मारना हिंसा है।

हिंसा का यह लक्षण है, इसलिए ईर्यासहित चलने वाले मुनि द्वारा जीव के मरने के पहले भांगे के अनुसार हिंसा कैसे कह सकते हैं ? मुनि के द्वारा जो जीव मरता है वह प्रमाद के अभाव से हिंसा के अन्तर्गत नहीं होता। अगर इस प्रकार जीव के मरने को भी हिंसा माना जाय तो कोई भी अहिंसक नहीं हो सकेगा। ऐसी दशा में प्रथम भंग में हिंसा का सन्निवेश

क्यों किया गया है ? इस प्रकार की शंका, कांक्षा, कलुषत
आदि से कांक्षामोह का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान आचार्य ने इस प्रकार किया है-
हिंसा का जो लक्षण बतलाया गया है वह किस अभिप्राय से
लक्षण बतलाने की आवश्यकता वहीं होती है जहाँ वस्तु
समझने में गड़बड़ पड़ती हो। जैसे किसी ने गाय लाने को
कहा। जिसे गाय लाने को कहा गया है उसने कभी गाय नह
देखी और गाय के ही समान रोझ ( गवय ) नामक पशु भ
होता है। लाने वाला मनुष्य कहीं गाय के बदले रोझ न
आवे, इसलिए उसे सींग, पूंछ, आदि बतलाते हुए यह भ
बतला दिया कि गाय के गले में झालर ( सास्ना—गले में लट
कता हुआ चमड़ा ) होती है। इस लक्षण को बतला देने
वह गड़बड़ में नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार हिंसा का लक्षण भ
इसी अभिप्राय से बतलाया गया है कि दीखती हिंसा को ह
हिंसा न समझा जाय। केवल जीव का मर जाना हिंसा नह
है किन्तु प्रमाद के कारण जीव के प्राणों का व्यपरोपण करन
हिंसा है। उक्त लक्षण केवल द्रव्यहिंसा में घटित नहीं होता
बल्कि दोनों प्रकार की हिंसा में घटित होता है। केवल द्रव्य
हिंसा का लक्षण जीव का मरना ही है। इसीलिए पहले भांग
में संदेह करने का कोई कारण नहीं है।

दूसरा भांगा—भाव से हिंसा पर द्रव्य से हिंसा नहीं य
है। जैसे तंदुल मच्छ, मछलियों को खाजाने का विचार करत

है। उसमें द्रव्यहिंसा तो नहीं हुई, किन्तु भावहिंसा अवश्य हुई।

तीसरा और चौथा भांगा स्पष्ट है। इसके संबंध में विवेचन की आवश्यकता ही नहीं है।

भंगान्तर के पश्चात् नयनान्तर है। नय सात हैं। उन्हें संक्षेप में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो भेदों में अन्तर्गत किया जाता है। द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से जो वस्तु नित्य है वही पर्यायार्थिक नय के अभिप्राय से अनित्य है। द्रव्यार्थिक शुद्ध द्रव्य को विषय करता है। उसकी दृष्टि में द्रव्य ही तत्व है। द्रव्य त्रिकाल में सदा विद्यमान रहता है। जो वस्तु भूतकाल में थी वह वर्तमान में भी है और भविष्य में भी सदैव रहेगी। उसका कभी नाश होना संभव नहीं है। पर्यायार्थिक नय कहता है कि कोई वस्तु जैसी की तैसी नहीं रहती। प्रतिक्षण पुरानी वस्तु नष्ट होती है और नई उत्पन्न होती है। अतएव जो भूतकाल में थी वह वर्त्तमानकाल में नहीं और जो वर्त्तमानकाल में है वह भविष्य में नहीं रहेगी।

दोनों नयों का अन्तर देखकर शंका होती है कि एक ही वस्तु में नित्यता और अनित्यता कैसे हो सकती है? यह दोनों धर्म परस्पर विरोधी हैं, एक साथ कैसे संभव हैं? अतएव इनमें से कोई एक अभिप्राय सच्चा और दूसरा अभिप्राय झूठा होना चाहिए। न मालूम कौन सच्चा है, कौन झूठा है।

इस प्रकार की शंका से कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता द्वारा कांक्षामोहनी कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान यह है कि दोनों ही अभिप्राय सच्चे हैं। जिस वस्तु को जिस अपेक्षा से नित्य कहा है, उसे उसी अपेक्षा से अनित्य कहा जाय तो विरोध की बात है। जैसे-वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और द्रव्य की अपेक्षा से ही अनित्य भी है; यह कहना परस्पर विरुद्ध है लेकिन विभिन्न अपेक्षाओं से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म भी अविरोधी हो जाते हैं। अपेक्षा में ऐसी शक्ति है कि वह विरोध को मथ डालती है। यह बात लोक में भी प्रसिद्ध है। एक ही आदमी अपने पिता, की अपेक्षा पुत्र कहलाता है और पुत्र की अपेक्षा पिता कहलाता है। पिता होना और पुत्र होना विरोधी बात प्रतीत होती है और एक ही अपेक्षा से दोनों का होना विरोधी ही है। जैसे-एक आदमी अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और उसी पिता की अपेक्षा पिता भी है, यह कहना विरुद्ध है लेकिन भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं के कारण विरोध हट जाता है। वही आदमी अपने पिता का पुत्र है और पुत्र का पिता है।

इसमें विरोध की बात कौन-सी है ?

इसी प्रकार एक बैठे हुए मनुष्य को छहों दिशाओं में कहा जा सकता है। एक ही जगह बैठा हुआ किसी अपेक्षा से पूर्व में है, किसी अपेक्षा से पश्चिम में, किसी अपेक्षा से उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व तथा अधोदिशा में भी है।

इसी तरह द्रव्यास्तिक नय से किसी वस्तु को नित्य कहना और पर्यायास्तिक नय से अनित्य कहना परस्पर विरोधी नहीं,

वरन् सत्य है। इसका कारण यह है कि वस्तु द्रव्य रूप भी है और पर्याय रूप भी है। द्रव्य और पर्याय-दोनों ही सत्य हैं। द्रव्य के अभाव में पर्याय और पर्याय के अभाव में द्रव्य रह नहीं सकता। हमें द्रव्य और पर्याय दोनों साथ-साथ रहते हुए ही प्रतीत होते हैं। द्रव्य त्रिकाल में एक सा रहता है अतएव वह नित्य है। पर्याय प्रतिक्षण पलटता रहता है इसलिए वह अनित्य है। द्रव्यास्तिक नय का विषय द्रव्य और पर्यायास्तिक नय का विषय पर्याय है।

नयान्तर के पश्चात् नियमान्तर आता है। नियम का अर्थ है—हठ या अभिग्रह। नियम में अन्तर देखकर भी शंका हो जाती है। जैसे-जब साधुपन अंगीकार किया तब सब प्रकार के सावद्ययोग का प्रत्याख्यान कर दिया है। फिर पोरसी, दोपोरसी आदि का पच्चक्खाण क्यों किया जाता है? सामायिक करने में सब गुण आ चुके फिर सामायिक करने के बाद भी पोरसी आदि का त्याग क्यों बतलाया गया है?

इस प्रकार की शंका होने से कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान यह है कि सामायिक होने पर भी पोरसी आदि का त्याग लेना ठीक ही है क्योंकि सामायिक से प्रमाद का नाश और अप्रमाद की वृद्धि होती है। सामायिक में सावद्य योग का त्याग कर देने पर भी गफ़लत आ जाती है

उसे मिटाने के लिए पोरसी, दो पोरसी आदि का त्याग करना अनुचित नहीं है। इस संबंध में प्रमाण यह है:—

सामाइए वि हु सावज्जचागरूवे उ गुण करं एयं।

अपमाय वुड्ढिजणगत्तणेण आणाओ विएणेयं॥

अर्थात्—सर्व सावद्यत्याग रूप सामायिक के होने पर भी पोरसी वगैरह का नियम करना गुणकारक है, क्योंकि ऐसे नियम अप्रमाद को बढ़ाने वाले हैं। यह आज्ञा में है।

सामायिक में अवगुण प्राप्त करने का त्याग किया है, गुण प्राप्त करने का त्याग नहीं किया है। अतएव गुण प्राप्त करने के लिए जितने भी नियम धारण किये जाएँ, अच्छा ही है। जिसे प्राप्त करने के लिए घर छोड़ा है उसे अधिक से अधिक प्राप्त करना बुरा नहीं है।

नियमान्तर के बाद प्रमाणान्तर आता है। शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान—यह चार प्रमाण माने गये हैं। इनमें शंका इस प्रकार होती है—आगम भी प्रमाण है और प्रत्यक्ष भी प्रमाण है मगर इन दोनों में विरोध प्रतीत होता है। जैसे आगम में कहा है कि सूर्य सुमेरू की समतल भूमि से आठ सौ योजन ऊपर घूमता है और प्रत्यक्ष में सूर्य पृथ्वी से निकलते देखा जाता है। इस प्रकार के विरोध के कारण दोनों प्रमाण कैसे माना जाय?

इस प्रकार की शंका होने पर कांक्षा, विचिकित्सा आदि द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान यह है कि आँखों से जो कुछ जैसा दिखाई देता है, वह सदा सत्य ही हो, ऐसा नियम नहीं है। अनेक कारणों से आँखों को भ्रम हो जाता है। आँखों में पूर्णता नहीं है। पीलिया रोग वाला सफेद चीज़ों को पीली देखता है तो क्या उसका देखना प्रमाण माना जा सकता है? इसी प्रकार बहुत रूप से नीचे की वस्तु और नीचे से ऊपर की वस्तु छोटी दिखाई देती है लेकिन वास्तव में वह क्या छोटी हो जाती है? नहीं, यह आँखों का भ्रम है। अतएव हम अपनी आँखों पर पूरी तरह निर्भर नहीं रह सकते। अतएव पूर्णज्ञानी महापुरुषों ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर जो निरूपण किया है, वही सत्य है।

यहाँ यह शंका की जा सकत है कि अगर हमारा प्रत्यक्ष भ्रान्त है तो उसे प्रत्यक्ष प्रमाण क्यों माना गया है? इस शंका का समाधान यह है कि जिस ज्ञान में प्रत्यक्ष का लक्षण पाया जाय वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो प्रत्यक्ष, भ्रान्त होता है वह प्रत्यक्ष नहीं। किन्तु प्रत्यक्षाभास है। उसे प्रमाण नहीं माना जाता। इस प्रकार प्रमाणों में कोई विरोध नहीं है-प्रमाण और प्रमाणाभास में विरोध हो सकता है।

इन सब कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कांक्षा मोहनीय मिथ्यात्वमोहनीय है और श्रमण निर्ग्रन्थ में मिथ्यात्व होता नहीं है। श्रमण निर्ग्रन्थ को दो ही क्रियाएँ लगती हैं-

आरंभिश्रा और मायावत्तिया। ऐसी दशा में श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार वेदते हैं? अगर वेदते हैं तो उन्हें श्रमण निर्ग्रन्थ कैसे कहा जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रमण निर्ग्रन्थ में मोह का किंचित् विकार अभीतक विद्यमान है। दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने से सम्यक्त्व तो है लेकिन क्षयोपशम में प्रदेशों का किंचित् उदय रहता है और उससे कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन एवं बंध होना सहज है। शंका होने पर भी अगर खींच न करे तो अतिचार ही रहता है और जब तक अतिचार है तब तक साधुपना भी है। खींच करने पर अनाचार हो जाता है और अनाचार की अवस्था में साधुपना नहीं रहता। साधु प्रतिदिन शंका, कांक्षा का प्रतिक्रमण करते हैं। छद्मस्थ बुद्धि के कारण शंका कांक्षा हो ही जाती है, लेकिन हठ नहीं करना चाहिए। हठ न किया जाय तो शंका आदि का दोष प्रतिक्रमण से दूर हो जाता है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—अगर शंका हो और समाधान करने वाला कोई न मिले तो क्या 'जिन' के वचन सत्य और निःशंक है? छद्मस्थ होने के कारण शंका, कांक्षा तो हो ही जाती है लेकिन ऐसे समय में जिन भगवान का शरण ग्रहण करलें तो क्या जिन के वचन सत्य हैं? इसके उत्तर में भगवान ने फर्माया—हाँ गौतम! वही बात सत्य और निःशंक

है जो जिन ने कही है। जिन की कही हुई बात को तथ्य मानने से शंका कांक्षा आदि समस्त दोष दूर हो जाएँगे।

यहाँ पर आगे का पाठ भी बोलना चाहिए कि इस प्रकार विचार करे, आचरण करे (आदि) तो वह जिन भगवान की आज्ञा का आराधक होगा।

भगवान ने यह अमोघ मंत्र बतलाया है। भगवान सर्वज्ञ थे, भूत और भविष्य का उन्हें पूर्ण ज्ञान था, आगे चलकर काल के दोष से कई बातें विरुद्ध नज़र आएँगी और तरह तरह के तर्क-कुतर्क उत्पन्न होंगे और इन कारणों से कांक्षा-मोहनीय के वेदन का समय आवेगा। उस समय जीव किसका आश्रय लेगा। इसी उद्देश्य से भगवान ने कहा है कि 'जिन' की कही बात सत्य है। इस प्रकार का निश्चल श्रद्धान होने से कांक्षामोहनीय कर्म के वेदने का समय नहीं आता।

समुद्र में तरंगें उठती ही रहती हैं, लेकिन नौका का आश्रय ले लिया जाय तो वही तरंगें क्रीड़ा का कारण बन जाती हैं और कोई हानि नहीं पहुंचा सकतीं। हाँ, अगर नौका का आश्रय छोड़ दिया जाय तब तो अवश्य ही गड़बड़ी होती है। फिर उस अपार सागर में कहीं ठिकाना नहीं लगता। इसी प्रकार यह संसार समुद्र है और इसमें पाँचवाँ आरा तूफ़ान के समान है। इस तूफ़ान से बचने के लिए गौतम स्वामी ने यह नौका बना दी है कि—'जिन की कही बात ही सत्य है।' इस

प्रकार विचारने और मानने से काल का यह विकराल तूफ़ान भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता। धर्म-मार्ग में शंका आदि की तरंगें उठने पर ऐसा विचार करने से वे तरंगें और आनन्द दायी बन जाती हैं। उस समय श्रमण यह सोचने लगता है कि भगवान जिन ने श्रमण निर्ग्रन्थ को कांक्षामोहनीय कर्म वेदन के जो कारण बतलाये हैं, वे सर्वथा सत्य ही हैं यह अनुभव मुझे इस शंका के उठने से हो रहा है। सचमुच जिन का कथन सत्य है।

एक ग्रंथ में देखा है कि धर्मात्मा को दुःखी और पापी को सुखी देखकर सम्यग्दृष्टि के हृदय में और प्रसन्नता होती है। इस स्थिति को देखकर सम्यग्दृष्टि यह विचार करता है कि ज्ञानी पुरुषों ने दस प्रकार का जो विषमकाल बतलाया है वह सत्य दिखाई दे रहा है। यह विषमता भगवान की वाणी की सत्यता को सूचित कर रही है।

जो लोग पाप का राज्य चला रहे हैं वे मौज करते दिखाई देते हैं। और जो लोग धर्म की तरफ रहते हैं वे लाठियाँ खाते और मोटे कपड़े पहनते हैं। इस विषमता को देखकर सम्यग्दृष्टि घबराते नहीं हैं, किन्तु हृदय और अधिक स्थिर हो जाता है।

भगवान ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में कहा—'हाँ गौतम ! वही बात सत्य और निशंक है, जो जिन की कही हुई है।'

सेवं भंते ! सेवं भंते ! गौतम बोल्या सही।
श्री वीरजी का वचनां में सन्देह नहीं॥
हाथ जोड़ी मान मोड़ी, गौतम बोल्या सही।
श्री वीरजी का वचनां में सन्देह नहीं॥

गौतम स्वामी ने सेवं भंते, सेवं भंते कह कर अपनी बुद्धि को भगवान के ज्ञानसागर में मिला दिया।

# श्रीभगवती सूत्र

## प्रथम शतकः- चतुर्थ उद्देशक

---

### कर्म प्रकृतियाँ

तीसरे उद्देशक में कर्म की उदीरणा एवं वेदना सम्बन्धी चर्चा की गई है। इस चौथे उद्देशक में कर्म के भेदों का निरूपण किया जायगा। शतक के प्रारंभ में जो संग्रह गाथा कही गई है, उसमें इस चौथे उद्देशक के लिए 'कर्मप्रकृति' संज्ञा दी गई है। उसी के अनुसार इस उद्देशक में कर्मप्रकृतियों का वर्णन किया जाता है।

### मूलपाठ—

प्रश्न—कइ णं भंते ! कम्मप्पगडीओ पण्णत्ताओ ?

उत्तर—गोयमा ! अट्ठकम्मप्पगडीओ पण्णत्ताओ, कम्मप्पगडीए पढमो उद्देसो नेयव्वो जाव

अणुभागो समत्तो । गाहा—

कइ पयडी ? कह बंधई ? कइहिं च ठाणेहिं बंधइ पयडो?
कइ वेदेइ य पयडी ? अणुभागो कइविहो कस्स ? ॥

संस्कृत—छाया

प्रश्न—कति भगवन् ! कर्मप्रकृतयः प्रज्ञप्ता ?

उत्तर—गौतम ! अष्ट कर्मप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः । कर्मप्रकृत्याः प्रथम उद्देशको ज्ञातव्यो यावत् अनुभागः समाप्तः । गाथा—

कति प्रकृतयः ? कथं बध्नाति ? कतिभिश्च स्थानैर्बन्धाति प्रकृतीः ?
कति वेदयति च प्रकृतीः ? अनुभागः कतिविधः कस्य ?

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! कर्म प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

उत्तर—गौतम ! आठ कर्म प्रकृतियाँ कही हैं । यहाँ प्रज्ञापना सूत्र का कर्मप्रकृति नामक तेईसवाँ पद ( उद्देशक पहला ) जानना चाहिए, यावत् अनुभाग समाप्त ।

गाथा—

कितनी कर्म प्रकृतियाँ हैं ? किस प्रकार बाँधता है ? कितने स्थानों से कर्म प्रकृतियाँ बँधती हैं ? कितनी प्रकृति वेदता है ? और किस प्रकृति का कितना रस है ?

## व्याख्यान

यहाँ सर्व प्रथम गौतम स्वामी ने कर्मप्रकृतियों की संख्या के सम्बन्ध में प्रश्न किया है। भगवान ने उत्तर में आठ प्रकृतियाँ बतलाई हैं।

कर्म के विषय में पहले कहा जा चुका है। व्याकरण के अनुसार कर्त्ता, जिसके साथ क्रिया-रूप व्यापार करता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे 'देवदत्त चावल पका रहा है।' इस वाक्य में पकाने की क्रिया चावल के साथ की जाती है, इसलिए यहाँ चावल कर्म है और देवदत्त कर्त्ता है। व्याकरण के अनुसार दो प्रकार की क्रिया होती है--सकमर्क और अकर्मक जिस क्रिया का कोई कर्म हो वह सकर्मक कहलाती है। जैसे पूर्वोक्त पकाने की क्रिया। जिस क्रिया में कर्म नहीं होता वह अकर्मक कहलाती है। जैसे—देवदत्त सोता है। इस वाक्य में कर्म नहीं है, यहाँ कर्त्ता के साथ ही क्रिया का व्यापार है। कर्म पृथक् नहीं है। गीता में कहा है—

*कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।*

यहाँ कर्त्ता द्वारा होने वाली क्रिया को ही कर्म शब्द से कहा गया है।

यद्यपि व्याकरण और गीता के इस वाक्य में कर्म का जो अर्थ लिया गया है, उसे मानने में कोई आपत्ति नहीं है तथापि

इस प्रकरण में कर्म का अर्थ दूसरा है। सम्पूर्ण चौदह राजू लोक में कार्माण वर्गणा के परमाणु भरे हुए हैं। आत्मा अपने अध्यवसाय से खींच कर उन्हें अपने साथ बद्ध करता है। तब उनकी कर्म संज्ञा होती है। मदिरा पुद्गल-परमाणुओं का समूह है। जड़ है। उसमें पीने वाले को नशा लाने का धर्म है। नशा, मदीरा पीने पर होता है, नहीं पीने पर नही होता। मनुष्य को जब मदीरा पीने की इच्छा होती है, तभी वह पीता है और जब पीता है तभी मदिरा का धर्म पीने वाले पर आता है। इसी प्रकार कर्म-वर्गणा के परमाणु लोक में सब जगह भरे हैं। मिथ्यात्व आदि कारणों से जीव उन परमाणुओं को अपनी ओर खींचता है और दुध-पानी की तरह एकमेक कर लेता है। जब जीव उन्हें अपने साथ मिला लेता है तब जिस प्रकृति का जो धर्म है, उसीके अनुसार वह उस जीव को फल देने लगती है।

प्रकृति का अर्थ है-स्वभाव। जैसे मदीरा के परमाणु नशा लाते हैं, इमली खट्टापन देती है, शक्कर मिठास देती है, यह इन पुद्गलों का स्वभाव है। इसी प्रकार कर्म की प्रकृतियों के विषय में समझना चाहिए। कर्म की कोई प्रकृति ज्ञान को आच्छादित करती है, उसका नाम ज्ञानावरणीय है। कोई प्रकृति दर्शन को ढंकती है, वह दर्शनावरणीय कहलाती है। इस प्रकार मूल प्रकृतियाँ आठ हैं और उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं—गौतम ! मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। इनका विशेष वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के कर्म प्रकृति नामक तेईसवें पद के पहले उद्देशक में है।

प्रज्ञापना सूत्र में प्रकृतियों का जो वर्णन किया गया है, उसका संक्षेप इस प्रकार है—

उक्त सूत्र में पहले प्रश्न किया गया है—भगवन् ! कर्म प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

भगवान ने फर्माया—गौतम ! आठ कर्म प्रकृतियाँ हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्म, आत्मा को लगते कैसे हैं ? कर्म जड़ हैं, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं है। वे स्वयं आकर आत्मा को लग नहीं सकते। इसके सिवाय कर्म रूपी हैं और आत्मा अरूपी है। अरूपी के साथ रूपी का सम्बन्ध किस प्रकार होता है ?

इस बात को दृष्टि में रखकर गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन् ! जीव, कर्म प्रकृतियाँ कैसे बाँधता है ?

भगवान फर्माते हैं—गौतम ! कर्म ही कर्म को बाँधता है। जिसमें कर्म हैं उसीको कर्म बंध होता है। जिसके कर्म नहीं हैं, उसे नहीं बँधते।

इस पर यह शंका होती है कि जीव अगर स्वभाव से अरूपी और अकर्मा है, तो कभी न कभी कर्म बंध का आरंभ

हुआ होगा। उस समय अकर्मा (अरूपी) होने पर भी जीव के साथ जड़ रूपी कर्म का बंध कैसे हुआ?

इसका समाधान यह है कि कर्मबंध, आत्मा को अनादि-काल से होता आया है। यद्यपि प्रत्येक बँधने वाले कर्म की आदि है, मगर कर्म के प्रवाह की आदि नहीं है। प्रवाह रूप में कर्मबंध अनादिकालीन है। इस विषय में आगम प्रमाण है ही मगर प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण भी हैं। आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाण (स्वसंवेदन) से सिद्ध है। भले ही आँखों से आत्मा दिखलाई न दे, फिर भी यह जो बोलने वाला, खट्टा-मीठा बताने वाला और आत्मा का निषेध करने वाला है, वही आत्मा है। जिसे 'मैं' और 'मेरा' इस प्रकार का ज्ञान होता है वही आत्मा है। सुख दुःख का अनुभव आत्मा ही करता है। इस प्रकार जब आत्मा है तो यह देखना चाहिए कि आत्मा स्वतंत्र है या परतंत्र है? आत्मा की अनेक शक्तियाँ रुकावट में पड़ी हैं। अगर रुकावट न होती तो दीवार के दूसरी ओर की बात क्यों न जानी जाती? इससे यह मालूम होता है कि आत्मा में शक्ति तो है मगर दबी हुई है। इस रुकावट को ही शास्त्रकार 'कर्म' कहते हैं।

आत्मा के साथ कर्म कब से लगे हैं, इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि अनादिकाल से ही कर्म आत्मा के साथ लगे हुए हैं। कर्मों के संयोग से आत्मा अनादिकाल से ही; स्वभाव से अमूर्त्तिक होते हुए भी मूर्तिक हो रहा है। इसीलिए अरूपी

के साथ रूपी कर्मों का संबंध कैसे हुआ ? इस प्रश्न का समाधान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि संसारी आत्मा रूपी है और उसीको कर्म लगते हैं; अतः आत्मा और कर्म का संबंध, रूपी और अरूपी का संबंध नहीं है वरन् रूपी का रूपी के साथ संबंध है।

कदाचित् यह कहा जाय कि आत्मा सच्चिदानन्द था परन्तु कर्म आत्मा के साथ आ लगे। तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा के किये बिना कर्म कैसे आ लगे ? अगर बिना किये कर्म लगने लगें तो बड़ी गड़बड़ी होगी। अतएव यह कहना ही ठीक है कि आत्मा कर्म का कर्त्ता है और अनादिकाल से वह कर्मों को उपार्जन कर रहा है। हाँ; यह अवश्य है कि कोई भी एक कर्म अनादिकालीन नहीं है और न अनन्तकाल तक आत्मा के साथ रह सकता है। मगर एक के बाद एक दूसरा और दूसरे के साथ तीसरा इस प्रकार कर्म नदी के जल प्रवाह के समान आते जाते रहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि आत्मा ने किस कारण से कर्म किये हैं ? इसके संबंध में भगवान फर्माते हैं—हे गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म जो आत्मा ने पहले उपार्जन किया है उसके होने पर दर्शनावरणीय कर्म भी उदय होता है। जब दर्शनावरणीय कर्म उदय आता है तो दर्शनमोहनीय कर्म अनुभव में आता है। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व को प्राप्त

रता है। इस प्रकार जीव आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियाँ ांधता है।

लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि कर्म प्रकृतियों के ध का जो क्रम बतलाया है वह बोलने में है। कर्म प्रकृतियों ा बंध तो अनादि काल से होता आया है। सारांश यह है क कर्म के आकर्षण से ही कर्म आते हैं। तेल के चिकने घड़े ः ऊपर धूल लगती है। धूल को यह ज्ञान नहीं है कि मैं कहाँ ाग रही हूं लेकिन घड़े में चिकनापन है अतएव धूल लगती ी है। इसी प्रकार आत्मा यद्यपि स्वभाव से शुद्ध है लेकिन र्म के लगने से उसमें चिकनापन आगया है और उस चिकने- ान से कर्म चिपकते हैं।

प्रज्ञापनासूत्र में, इससे आगे गौतम स्वामी पूछते हैं— भगवन् ! जीव कितने स्थानों द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म बाँधता ? इसके उत्तर में भगवान ने फर्माया दो स्थानों द्वारा-राग द्वारा और द्वेष द्वारा।

तत्पश्चात् वेदना के विषय में प्रश्न किया गया है— भगवन् ! जीव कितनी प्रकार की कर्म प्रकृतियाँ वेदता है ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है—गौतम ! जीव कई कर्म प्रकृतियाँ वेदता है और कई नहीं वेदता है। वे आठ कर्म प्रकृतियाँ हैं। कोई जीव कम प्रकृतियाँ वेदता है, कोई ज्यादा।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन्! जीव ज्ञानावरणीय कर्म वेदता है? उत्तर में भगवान फर्माते हैं—हे गौतम! कोई जीव वेदता है, कोई नहीं वेदता। केवली ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर चुके हैं इसलिए वे नहीं वेदते।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन्! नैरयिक ज्ञानावरणीय कर्म वेदते हैं? भगवान उत्तर देते हैं—गौतम! नारकी जीव ज्ञानावरणीय कर्म अवश्य वेदते हैं।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन्! कर्म का रस कितने प्रकार का होता है? भगवान ने फर्माया—गौतम! दस प्रकार है—श्रोत्र आदि पाँच द्रव्येन्द्रियों का आवरण होता है और श्रोत्रज्ञान आदि रूप पाँच भावेन्द्रियों का भी।

कर्म प्रकृतियों के सम्बन्ध में प्रज्ञापना सूत्र में जो वर्णन किया गया है और जिसका उल्लेख यहाँ किया गया है, उस का संक्षिप्त सार यही है।
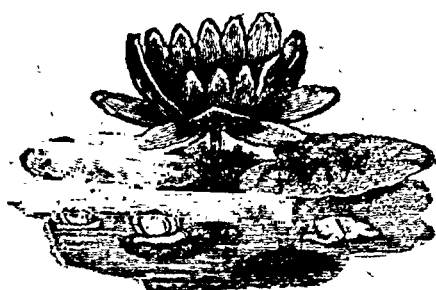
# उपस्थान-परलोक की क्रिया

मूलपाठ—

प्रश्न—जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं उवट्ठाइज्जा ?

उत्तर—हंता उवट्ठाएज्जा ।

प्रश्न—से भंते ! किं वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

उत्तर—गोयमा ! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ।

प्रश्न—जइ वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, किं बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, पंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, बालपंडियवीरित्ताए उवट्ठाएज्जा ?

उत्तर—गोयमा ! बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो पंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो बालपंडिय-वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

संस्कृत—छाया

प्रश्न—जीवो भगवन् ! मोहनीयेन कृतेन कर्मणा उदीर्णे नोपतिष्ठेत् ?

उत्तर—हन्त, उपतिष्ठेत् ।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किं वीर्यतयोपतिष्ठेत्, अवीर्यतयो-पतिष्ठेत् ?

उत्तर—गौतम ! वीर्यतयोपतिष्ठेत्, नो अवीर्यतयोपतिष्ठेत्।

प्रश्न—यदि वीर्यतयोपतिष्ठेत्, किं बालवीर्यतयोपतिष्ठेत्, पण्डितवीर्यतयोपतिष्ठेत्, बालपण्डितवीर्यतयोपतिष्ठेत् ?

उत्तर—गौतम ! बालवीर्यतयोपतिष्ठेत्, नो पण्डितवीर्य-तयोपतिष्ठेत्, नो बालपण्डितवीर्यतयोपतिष्ठेत् ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! जब मोहनीय कर्म उदय में आया हो तब जीव उपस्थान—परलोक की क्रिया करता है ?

उत्तर—हाँ, गौतम ! उपस्थान करता है।

प्रश्न—भगवन् ! जीव वीर्य से उपस्थान करता है या अवीर्य से ?

उत्तर—गौतम ! वीर्य से उपस्थान करता है, अवीर्य से नहीं करता।

प्रश्न—भगवन् ! अगर वीर्य से उपस्थान होता है तो क्या बालवीर्य से होता है, पंडितवीर्य से होता है या बालपंडितवीर्य से होता है ?

उत्तर—गौतम ! उपस्थान बालवीर्य से होता है, किन्तु पंडितवीर्य से अथवा बालपंडित वीर्य से नहीं होता।

## व्याख्यान

कर्म प्रकृतियों के विषय में सामान्य रूप से विचार करने के पश्चात् मोहनीयकर्म के विषय में विचार किया गया है। गौतम स्वामी विशेष रूप से मोहनीयकर्म की बात पूछते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न पूछने का अभिप्राय यह है कि संसार में अज्ञान और ज्ञान—दोनों की क्रिया देखी जाती है। अज्ञान के वश होकर के भी आत्मा महान् से महान् और घोर

से घोर कष्ट सहता है और ज्ञानी को भी कष्ट सहना पड़ता है। लेकिन दोनों की क्रिया किस-किस भाव से होती है, यह जानने के लिए गौतम स्वामी निम्नलिखित प्रश्न करते हैं। इस प्रश्नोत्तर से उन लोगों का कथन भी खंडित हो जाता है जो मिथ्यादृष्टि की क्रिया को भगवान की आज्ञा में मानते हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं--जीव ने जो मोहनीय कर्म किया है वह जब उदय में आया हो तब जीव परलोक के लिए क्रिया करता है ?

यहाँ मोहनीय कर्म का अर्थ साधारण मोहनीय कर्म नहीं किन्तु मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की विवक्षा कर के ही यह प्रश्न किया है कि--मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होने पर जीव परलोक साधन के लिए की जाने वाली क्रिया करता है ? क्रिया को स्वीकार करता है ?

परलोक साधन के लिए कई अज्ञानी भी परिश्रम करते हैं तथा मोक्ष चाहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से वे ऐसी उग्र क्रिया करते हैं कि देखने वाले चकित रह जाते हैं। अतएव गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि--अज्ञानी जीव मिथ्यात्व के उदय से ऐसी क्रिया करता है या अनुदय से ?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं--हाँ गौतम ! मिथ्यात्व का उदय होने पर भी जीव ऐसी क्रिया करता है।

शंका--मासखमण आदि तप क्रिया क्षयोपशम भाव से होती है और शास्त्र कहता है कि मिथ्यात्व मोहनीय कर्म से भी ऐसा होता है। यह बात समझ में नहीं आती। इस परस्पर विरोधी बात का समाधान क्या है ?

समाधान--इस प्रकार की शंका के कारण कइयों ने (श्वे० तेरह पंथियों ने) तो मिथ्यादृष्टि की क्रिया आज्ञा में ही मान ली है। लेकिन मिथ्यादृष्टि की क्रिया यदि आज्ञा में होती तो वह मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से की गई क्यों मानी जाती ? जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी न समझकर उल्टी समझना मिथ्यात्व कहलाता है। जब मिथ्यात्वी की समझ ही उल्टी है तो उसकी क्रिया उल्टी क्यों नहीं होगी ? और उल्टी मिथ्या क्रिया भगवान की आज्ञा में किस प्रकार हो सकती है ? मान लीजिए तीन पुरुष हैं। एक उद्योग करता है, दूसरा उद्योग नहीं करता और तीसरा मूर्खतापूर्वक विपरीत उद्योग करता है। मिथ्यादृष्टि की क्रिया इनमें से तीसरे प्रकार के उद्योग के समान है। तीसरे प्रकार का उद्योग करने की अपेक्षा उद्योग न करना बुरा नहीं है। इसी कारण मिथ्यादृष्टि की विपरीत क्रिया आज्ञा में नहीं है।

मिथ्यादृष्टि, मिथ्यात्व के उदय से विपरीत क्रिया करता है। उससे अगर सम्यक् प्रकार से क्रिया करने को कहा जाय तो वह नहीं करता और उससे विपरीत ही करता है। वह सच्चे उपदेश को नहीं मानता। ढोंग, धतिंग की बात उसे

पसंद आती है। सत्य के संबंध में प्रमादी रहता है और विपरीत बात के लिए अपना तन, मन, धन भी दे देता है। मिथ्या दृष्टि की ऐसी परिणति देखकर ज्ञानियों ने कहा है--मिथ्यात्व के उदय से विपरीत श्रद्धा होती है, सत् श्रद्धा नहीं होती।

व्यवहार में देखिए कि जिस काम को आप सच्चा और ठीक समझते हैं, उसमें कितना परिश्रम करते हैं और जिसे हानि रूप समझते हैं उसमें कितना परिश्रम करते हैं? विवाह और मृत्युभोज आदि में खर्च करके भी कितना कष्ट सहते हैं? कोई न करने का उपदेश देता है तब भी नहीं मानते। यह मोह का उदय है। जब सम्यग्दृष्टि को भी मोह ऐसा बना देता है, तो मिथ्यादृष्टियों का क्या कहना है।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं--हे भगवन्! मोहनीय कर्म का उदय होने पर भी जीव परलोक की क्रिया करता है, तो वह उपस्थान-परलोक की क्रिया वीर्य के कारण होती है या अवीर्य के कारण?

इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि जब मोहनीय कर्म के उदय से परलोक की क्रिया करता है तो उसमें पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है? लेकिन भगवान फर्माते हैं-बिना पुरुषार्थ के तो कोई काम होता ही नहीं है।

भगवान ने इसीलिए उत्तर दिया---गौतम! वह उपस्थान वीर्य से होता है, अवीर्य से नहीं होता।

वीर्य का योग होने से प्राणी भी वीर्य कहलाता है। जैसे धन योग से मनुष्य धनिक कहलाता है, उसी प्रकार वीर्य के योग से वीर्य कहलाता है।

मोह कर्म का उदय होने पर भी क्रिया की जाती है मगर उस क्रिया का कर्त्ता जीव ही है, कर्म नहीं। उस प्राणी के प्राणीपन को वीर्यता (वीर्यत्व) कहते हैं और उस वीर्यता द्वारा ही वह परलोक साधन की क्रिया करता है।

वीर्यता का दूसरा अर्थ पराक्रम है और जिसमें पराक्रम हो उसे वीर्य (वीर्यत्व) कहते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं—हे गौतम! मोहनीय कर्म के उदय से परलोक की क्रिया करने वाला वीर्यता से परलोक की क्रिया करता है, अवीर्यता से नहीं करता। वह स्वपराक्रम से क्रिया करता है, इसीसे उसका फल भी भोगता है।

अगर परलोक की क्रिया करने वाला जीव न माना जाय, कर्म को ही कर्त्ता माना जाय तो उस क्रिया का फल किसे होगा? इसके अतिरिक्त जिन कर्मों को परलोक की क्रिया करने वाले कहोगे वे कर्म किसके किये हुये हैं? इसलिए आत्मा स्वयं ही कर्त्ता है, यह मानना ही ठीक होगा।

वीर्य तीन प्रकार का होता है—बाल वीर्य, पंडित वीर्य, बाल पंडितवीर्य। गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! मोहनीय

कर्म के उदय वाला परलोक की जो क्रिया करता है, वह उक्त तीनों वीर्यों में से किस वीर्य द्वारा करता है ? अर्थात्-किस वीर्यता से उपस्थान होता है ?

जिस जीव में अर्थ का सम्यक् बोध न हो और सद्बोध के फलस्वरूप विरति न हो, (क्योंकि सम्यग्ज्ञान का फल विरति-चारित्र है ) अर्थात् जो मिथ्यादृष्टि हो उसे 'बाल' कहते हैं। बाल जीव का वीर्य बालवीर्य कहलाता है।

पंडित का अर्थ यहाँ पोथे पढ़ लेने वाला नहीं है। बल्कि सर्व सावद्य योग का त्याग करने वाला पंडित कहलाता है। जो पोथे पढ़ कर भी पाप का त्याग न कर सका, परमार्थ की दृष्टि से उसे अज्ञानी ही कहना चाहिए। जिसने शुष्क ज्ञान पढ़ा और पाप नहीं टाला, उसका ज्ञान निष्फल है। वह अज्ञानी है। कहा भी है--

*तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः ।*
*तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ?*

अर्थात्—जिसकी मौजूदगी में भी राग-द्वेष पाये जावें, वह ज्ञान ही नहीं हो सकता। ज्ञान का फल राग-द्वेष को टालना है। जिस ज्ञान से यह फल प्राप्त न हो सका वह ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सूर्य की किरणों के सामने ठहरने की शक्ति अंधकार में नहीं है। अर्थात् सूर्य का प्रकाश फैलने पर अंधकार नष्ट हो जाता है। अतः जिसके फैलने पर अंधकार

नष्ट न हो, वल्कि बना रहे उसे सूर्य का प्रकाश कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार ज्ञान के होने पर राग-द्वेष का नाश होना चाहिए। अगर राग-द्वेष का नाश नहीं होता तो उसे ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता। जो पुरुष ज्ञानवान कहलाता हुआ भी राग-द्वेष के प्रबल चक्कर में पड़ा हुआ है उसमें ज्ञान नहीं, अज्ञान ही है। अगर वह राग-द्वेष को जीत लेता और पढ़ा लिखा न होता तो भी वह ज्ञानी ही कहलाता। चाणक्य ने भी अपनी नीति में कहा है—

पठति पाठयति

अर्थात्—लोग व्यसन और मान-बड़ाई के लिए भी शास्त्रों का पठन-पाठन एवं चिन्तन करते हैं लेकिन ऐसे पंडित, मूर्ख हैं। जिसमें ज्ञानानुसारिणी सत्क्रिया है, वही पुरुष पण्डित है।

नीति में अपनी मर्यादा के अनुसार ही बात कही गई है और शास्त्र में इस विषय पर अधिक विचार किया गया है। शास्त्रों में कहा है कि पाँच समिति और तीन गुप्ति की आराधना करने वाले साधु को इन्द्र भी नमस्कार करता है। यद्यपि इन्द्र में प्रचण्डशक्ति है, प्रबल सामर्थ्य है और अवधिज्ञान भी है, तथापि वह अपने आपको बाल समझता है। वह मानता है कि मैं जिस बात को जानता हूँ, उसे क्रिया में नहीं ला रहा हूँ

मित्रो ! अगर आप दया की बात जानते मात्र हैं, उसे काम में नहीं लाते, बल्कि दूसरों को चूसकर मौज उड़ाना ही जानते हैं तो कहना चाहिए कि अभी आप जैनत्व से दूर हैं। शास्त्र के इन वचनों में बड़ा रहस्य है। कोई चाहे थोड़ा पढ़ा हो या ज्यादा पढ़ा हो, लेकिन जिसमें विरति है—जो क्रियानिष्ठ है, शास्त्रकार उसे पंडित कहते हैं। पंडित पुरुष का वीर्य—पराक्रम पंडितवीर्य कहलाता है।

तीसरा भेद बाल-पंडितवीर्य का है। जिन-जिन त्याज्य कामों को त्यागा नहीं है, उन्हें त्यागने योग्य समझना पंडितपन है परन्तु मोह के उदय से अभी जो नहीं त्यागा है सो बालपन है। त्याज्य कामों को न त्यागना अगर बालपन नहीं माना जायगा तो वे काम त्याग के योग्य नहीं माने जा सकते। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य हिंसा को त्याज्य जानता है। वह हिंसा कर रहा था इतने में किसी ने उससे पूछा—यह क्या कर रहा है ? उसने उत्तर दिया-हिंसा कर रहा हूँ। प्रश्नकर्त्ता ने फिर पूछा-हिंसा करने योग्य है या त्यागने योग्य है ? उसने कहा—त्यागने योग्य है। प्रश्नकर्त्ता फिर पूछता है—अगर हिंसा त्यागने योग्य है तो कर क्यों रहा है ? उसने कहा—यह मेरी भूल है, प्रमाद है।' इस प्रकार हिंसा को त्याज्य स्वीकार करना पण्डितपन है किन्तु आचरण से उसे नहीं छोड़ना बालपन है। सारांश यह है कि जो पुरुष एक देश से—आंशिक रूप से—पाप से हट जाता है यानी देश विरति का पालन करता है

वह बालपंडित कहलाता है। उसका वीर्य बालपंडितवीर्य कहा जाता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं—हे गौतम! मोहनीय कर्म के उदय वाला परलोक की क्रिया बालवीर्यता से करता है, वह पंडितवीर्यता या बालपंडितवीर्यता से नहीं करता। अर्थात् बालवीर्यता से वह क्रिया करने के लिए उपस्थान करता है।
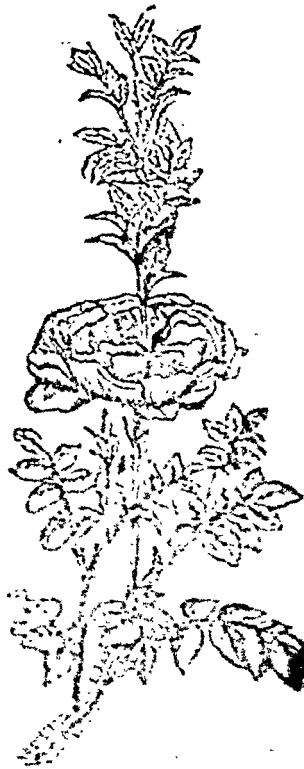
# अवक्रमण पतन

मूलपाठ—

प्रश्न—जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं अवक्कमेज्जा ?

उत्तर—हंता, अवक्कमेज्जा ।

प्रश्न—से भंते ! जाव बालपंडिअवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ?

उत्तर—गोयमा ! बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, नो पंडिअवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, सिय बालपंडिअ-वीरियत्ताए अवक्कमेज्जा । जहा उदिण्णेणं दो आलावगा तहा उवसंतेण वि दो आलावगा भाणि-

यव्वा, नवरं उवट्ठाएज्जा पंडिअवीरियत्ताए, अवक्क-मेज्जा, बालपंडिअवीरियत्ताए ।

प्रश्न—से भंते ! किं आयाए अवक्कमइ, अणायाए अवक्कमइ ?

उत्तर—गोयमा ! आयाए अवक्कमइ, णो अणायाए अवक्कमइ ।

प्रश्न—मोहणिज्जं कम्मं वेएमाणे से कहमेयं भंते ! एवं ?

उत्तर—गोयमा ! पुव्विं से एयं एवं रोयइ, इयाणिं से एयं एवं नो रोयइ, एवं खलु एयं एवं ।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—जीवो भगवन् ! मोहनीयेन कृतेन कर्मणा उदीर्णे-नाऽपक्रामेत् ?

उत्तर—हन्त, अपक्रामेत् ।

प्रश्न—तद् भगवन् ! यावत्-बालपण्डित वीर्येणाऽपक्रामेत् ?

उत्तर—गौतम ! बालवीर्यतयाऽपक्रामेत्, नो पण्डितवीर्य-तयाऽपक्रामेत्, स्यात् बालपण्डितवीर्यतयाऽपक्रामेत्। यथोदीर्णेन द्वौ आलापकौ तथोपशान्तनापि द्वौ आलापकौ भणितव्यौ, नवरं उपतिष्ठेत् पण्डितवीर्यतया, अपक्रामेद् बालपण्डितवीर्यतया।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किमात्मनाऽपक्रामति अनात्मनाऽपक्रामति ?

उत्तर—गौतम ! आत्मनाऽपक्रमति, नो अनात्मनाऽपक्रामति।

प्रश्न—मोहनीयं कर्म वेदयन् तत् कथमेतत् भगवन् ! एवम् ?

उत्तर—गौतम ! पूर्वं तस्यैतदेवं रोचते, इदानीं तस्यैतदेवं नो रोचते, एवं खलु एतदेवम्।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् कृत मोहनीय कर्म जब उदय में आया हो तो अपक्रमण करता है—उत्तम गुणस्थानक से हीन गुणस्थानक में जाता है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, अपक्रमण करता है।

प्रश्न—भगवन् ! वह अपक्रमण यावत् बालवीर्य से, पंडितवीर्य से या बालपंडितवीर्य से होता है ?

उत्तर—बालवीर्य से होता है और कदाचित् बाल-पंडितवीर्य से भी होता है परन्तु पंडितवीर्य से नहीं होता। जैसे 'उदय में आये हुए' पद के साथ दो आलापक कहे हैं, उसी प्रकार 'उपशान्त' पद के साथ भी दो आलापक कहने चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ पंडितवीर्य से उपस्थान होता है और बालपंडितवीर्य से अपक्रमण होता है।

प्रश्न—भगवन्! अपक्रमण आत्मा से होता है या अनात्मा से होता है?

उत्तर—गौतम! अपक्रमण आत्मा से होता है, अनात्मा से नहीं होता।

प्रश्न—भगवन्! मोहनीय कर्म को वेदता हुआ यह इस प्रकार क्यों होता है?

उत्तर—गौतम! पहले उसे इस प्रकार रुचता है और अब उसे इस प्रकार रुचता नहीं है इस कारण यह इस प्रकार होता है।

## व्याख्यान

उठने का विपक्षी गिरना है, अतएव उठने सम्बन्धी प्रश्न करने के पश्चात् गौतम स्वामी गिरने का प्रश्न करते हैं। गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन् ! पहले उपार्जन किया हुआ मोहनीय कर्म जब उदय में आया हो तब जीव अपक्रमण करता है ? अर्थात् उन्नत गुणस्थान से हीन गुणस्थान में आता है ?

भगवान ने उत्तर में फर्माया--गौतम ! हाँ अपक्रमण करता है अर्थात् मोह कर्म के उदय से जीव ऊंचे गुणस्थान से गिरकर नीचे गुणस्थान में आ जाता है।

गौतम स्वामी पुनः प्रश्न करते हैं--भगवन् ! यह अपक्रमण बालवीर्यता से होता है, पण्डितवीर्यता से होता है या बालपंडितवीर्यता से होता है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान यह देते हैं--गौतम ! यह अपक्रमण बालवीर्यता से होता है और कदाचित् बालपंडितवीर्यता से भी होता है परन्तु पंडितवीर्यता से नहीं होता। जब मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होता है तब जीव सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यादृष्टि हो जाता है। लेकिन मिथ्यात्व मोह के उदय से गिरकर जीव पंडितवीर्यता में नहीं जाता। कदाचित् चारित्रमोहनीय का उदय हो तो संयम से पतित होकर बालपंडितवीर्यता में--देशविरत रूप में प्राप्त होता है।

यहाँ पाठान्तर भी है। दूसरे पाठ में पंडितवीर्य का और बालपंडित वीर्य का निषेध किया गया है। इस पाठ के अनुसार मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से गिरने वाला जीव सिर्फ बालवीर्यता में आता है--बालपंडितवीर्यता में भी नहीं आता।

इस प्रश्नोत्तर में मोह की लीला बतलाई गई है। मोहकर्म सब कर्मों का मूल है। इसके प्रताप से उच्च से उच्च क्रिया करने वाला मुनि भी गिर जाता है। यद्यपि गिरता है वह मोह के कारण मगर गिरता है अपने ही पराक्रम से। अगर वह न गिरता तो मोह जबर्दस्ती नहीं गिरा सकता था। इस प्रकार जीव अपने ही पुरुषार्थ से चढ़ता है और अपने ही पुरुषार्थ से गिरता है।

भगवान ने आत्मा में दोनों प्रकार की शक्तियाँ बतलाई हैं। आत्मा चाहे जिस शक्ति से काम लें। मदिरा मनुष्य को मत्त बनाती है लेकिन मदिरा पीना किसके हाथ में है? मनुष्य चाहे मदिरा पीए चाहे न पीए। मदिरा स्वयं नहीं भीतर चली जाती। पीने वाला स्वेच्छा से पीता है। जब वह पी लेता है। तब उन्मत्त हो जाना उसके हाथ में नहीं रहता। मदिरा अपना असर अवश्य दिखलाती है। इसी प्रकार मिथ्यात्व का पान न करो--मिथ्यात्वजनक क्रिया न करो तो गिरोगे नहीं मिथ्यात्व का पान करना या न करना जीव के पुरुषार्थ के अधीन है। मगर मिथ्यात्व का उपार्जन करके उसके फल से किस प्रकार बचा जा सकता है?

मोहकर्म, भावमदिरा है। जैसे मदिरा में अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार मोह में भी अनेक प्रकार की ताकत है। मोह में पड़ने वाला जीव, मनुष्यसे कीड़ा मकोड़ा बन जाता है। जो देव घड़ी भर पहले देवलोक में दिव्य नाटक देखता था, देवांगनाओं के साथ स्वर्गीय विलास भोग रहा था, वही घड़ी भर बाद देवांगना के आभूषणों के रत्न में क्षुद्र जीव के रूप में उत्पन्न हो लेता है! यह मोह का माहात्म्य है!

मोह के प्रताप से क्या मनुष्य को नीच से नीच बनते नहीं देखा जाता है? मोह का ही यह प्रतिफल है कि मनुष्य खादी जैसे विशुद्ध वस्त्र को छोड़कर हिंसामय मैनचेस्टर का मलमल नहीं त्याग सकता। लेकिन सौ बात की एक बात यह है कि मोह को जीते विना कल्याण नहीं है। मोह को जीतकर सादे रहोगे तो आज़ाद भी होओगे और इस लोक तथा परलोक—दोनों को सुधार सकोगे। मोहनीय कर्म के कारणों को जानकर, उनका त्याग करने से मोह से अतीत हो सकते हो।

मोहनीय कर्म के उदय का प्रश्नोत्तर हो चुका। उदय-उदीरणा का विरोधी उपशम है। इसलिए अब उपशम के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाता है। उपशम सम्बन्धी प्रश्नोत्तर उदय के समान ही समझने चाहिए। विशेषता यह है कि उपशम होने पर पंडित वीर्य में उपस्थान होता है और बालपंडितवीर्य में अपक्रमण होता है।

यहाँ एक प्रश्न किया जा सकता है। वह यह कि पंडित-वीर्यता में अपक्रमण क्यों नहीं होता ? कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर दसवें और आठवें आदि गुणस्थानों में आ जाता है। फिर पंडितवीर्य से अपक्रमण क्यों नहीं कहा ?

इसका उत्तर इस प्रकार है—वीर्यता के तीन भांगे हैं। उनमें से पंडितवीर्यता छठा गुणस्थान है। जब मोहनीयकर्म का क्षयोपशम हो जाता है, तब अकेला पंडितवीर्य ही होता है, दूसरे दो वीर्य नहीं होते। अतएव गिरता हुआ मनुष्य श्रावक के रूप में आता है या मिथ्यादृष्टि हो जाता है। वह गिर कर फे भी पंडितवीर्यता में स्थिर हो जाय ऐसा नहीं होता।

गौतम स्वामी का प्रश्न है— भगवन् ! मोहकर्म का उपशम होने पर जीव परलोक की क्रिया करने के लिए उद्यत हो सकता है ? इसके उत्तर में भगवन् ने फर्माया—हाँ, हो सकता है। गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन् ! वह वीर्यता से परलोक की क्रिया करता है या अवीर्यता से ? इसके उत्तर में भगवन् से फर्माते हैं—गौतम ! वीर्यता से करता है, अवीर्यता से नहीं करता। फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् वह परलोक की क्रिया बालवीर्यता से करता है, पंडितवीर्यता से करता है या बालपंडितवीर्यता से करता है ? भगवन् उत्तर देते हैं—गौतम ! पंडितवीर्यता से करता है, क्योंकि उपशान्त अवस्था में पंडितवीर्य होता है, शेष दो वीर्य नहीं होते।

वृद्ध आचार्यों ने वाचनान्तर देख कर यहाँ दूसरी व्यवस्था की है। वे कहते हैं कि मोह का उपशम होने पर मिथ्या दृष्टि नहीं होता, लेकिन साधु या श्रावक होता है।

गौतम स्वामी का दूसरा प्रश्न यह है कि किये हुए मोहनीय कर्म का उपशम होने पर जीव अपक्रमण करता है? अर्थात् जीव गिर जाता है? इसका उत्तर भगवान् ने यह दिया है—हाँ, गौतम! अपक्रमण करता है। तब गौतम स्वामी पूछते हैं—जीव गिरकर किस वीर्यता में जाता है? इसके उत्तर में भगवान ने फ़रमाया—उपशान्त मोह वाला जीव गिरकर बालपंडित वीर्यता में आता है, बालवीर्यता में नहीं आता क्योंकि बालवीर्यता मिथ्यादृष्टि में होती है और मिथ्यादृष्टि मोह के उदय से होता है। यहाँ उदय का नहीं, किन्तु उपशम का प्रकरण है, अतः बालपंडित वीर्यता कहा है।

तदनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! वह अपक्रमण आत्मा द्वारा होता है या आत्मा द्वारा? भगवान फ़र्माते है—आत्मा द्वारा अपक्रमण होता है, अनात्मा द्वारा नहीं। तब गौतम स्वामी ने पूछा—भगवान मोहनीय कर्म को वेदते हुए अपक्रमण किस प्रकार होता है? तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य; साधु भी हो गया और फिर ग्यारहवे गुणस्थान तक भी पहुँच गया, वह मोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदता है? गिरता भी अपने आत्मा से ही है और वेदता भी अपने आत्मा से ही है। फिर यह अपक्रमण क्यों और कैसे होता है?

इस का उत्तर यह है कि अपक्रमण होने से पहले वह जीव; जीवादि नौ पदार्थों को मानता था—उन पर श्रद्धा रखता था और यह भी मानता था कि धर्म का मूल अहिंसा है। जिन भगवान ने जैसा कहा है, वैसा ही तत्त्व है। इस प्रकार धर्म के प्रति उसकी रुचि थी। लेकिन श्रद्धा बदलने से अब उसे अर्हन्त का धर्म नहीं रुचता। अब उसे पहले रुचने वाली बातें अरुचिकर लगती हैं। जब उसे जिनधर्म की बातें रुचती थीं तब वह सम्यग्दृष्टि था। अब नहीं रुचती हैं तब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की वेदना होती है। इस अरुचि के फलस्वरूप मिथ्यात्वमोहनीय कर्म वेदता है और ऊपर के गुणस्थान से गिर जाता है।

गौतम स्वामी ने भगवान से यह प्रश्न क्यों किये हैं और भगवान ने इनका उत्तर क्यों दिया है? इस बात पर विचार करने से मालूम होता है कि यह प्रश्नोत्तर बाल जीवों के हित के लिए किये गये हैं। आज तीर्थंकर नहीं हैं और दुनिया की खटपट देखकर बुद्धि में विभ्रम उत्पन्न हो जाता है। ऐसे समय में अगर यह प्रश्नोत्तर न होते तो किसका आसरा लेकर मुमुक्षु जीव अपना कल्याण करते? इस पाँचवें आरे का प्रकोप खारे समुद्र के समान है और यह प्रश्नोत्तर गंगा के निर्मल शीतल जल के समान मीठे हैं। इन्हें समझ कर हृदय में स्थापित करने से निश्चय ही कल्याण होगा। जो जीव इन तत्त्वों पर रुचि रखता है, उसे कोई मिथ्यादृष्टि नहीं बना

सकता और जो अरुचि रखता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। अतएव क्रिया करने की शक्ति न हो तब भी तत्वों के प्रति रुचि तो होनी ही चाहिए।

सारांश यह है कि मिथ्यात्व मोहनीय की वेदना धर्म पर अरुचि रखने से होती है और धर्म पर अरुचि रखने से ही जीव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बाँधता है। जिसे मिथ्यात्व मोहनीय की वेदना से बचना हो उसे शंका, कांक्षा आदि सम्यक्त्व के दोषों का त्याग कर देना चाहिए। यद्यपि आजकल की व्यावहारिक पढ़ाई के बिना संसार व्यवहार न चलता होगा, लेकिन उसी को सब कुछ नहीं समझ लेना चाहिए। धर्मतत्व का भी विचार करना चाहिए। इस बात की सावधानी सदैव रखनी चाहिए कि हम धर्म के विचार से दूर न जा पड़ें।

आज आप लोगों के तन, मन और धन की उदारता ऐसे कर्मों में लग रही है, जिसके कारण वीतराग धर्म का टिकाव होना कठिन हो रहा है। इसलिए धर्म के प्रसार का ध्यान रक्खो। धर्म की ओर अपनी प्रवृत्तियाँ झुकाओ।
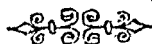
# कर्मभोग से मोक्ष

मूलपाठ—

प्रश्न—से णूणं भंते ! नेरइयस्स वा, तिरिक्खजोणिअस्स वा, मणूसस्स वा, देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे, नत्थि तस्स अवेइअत्ता मोक्खो ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! नेरइअस्स वा, तिरिक्ख-मणु-देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे, नत्थि तस्स अवेइत्ता मोक्खो ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-नेरइअस्स वा जाव मोक्खो ।

उत्तर—एवं खलु मए गोयमा ! दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तंजहा-पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य ।

तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ, तत्थ णं जं तं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ, अत्थेगइयं णो वेएइ। णायमेयं अरहया, सुयमेयं अरहया, विन्नायमेयं अरहया—इमं कम्मं अयं जीवे अज्भोवगभिआए वेयणाए वेदेस्सइ, इमं कम्मं अयं जीवे उवक्कमिआए वेदणाए वेदेस्सइ अहकाम्मं, अहानिगरणं जहा जहा तं भगवया दिट्ठं तहा तहा तं विप्परिणामिस्सतीति। से तेणट्ठेणं गोयमा! नेरइयस्स वा जाव मुक्खे।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—तद् नूनं भगवन्! नैरयिकस्य वा, तिर्यग्योनिकस्य वा, मनुष्यस्य वा, देवस्य वा यत् कृतं पापं कर्म, नास्ति तस्यावेदयित्वा मोक्षः?

उत्तर—हन्त, गौतम! नैरयिकस्य वा तिर्यग्-मनुज-देवस्य वा यत् कृतं पापं कर्म, नास्ति तस्याऽवेदयित्वा मोक्षः।

प्रश्न—तत् केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते-नैरयिकस्य वा यावद् मोक्षः?

उत्तर—एवं खलु मया गौतम ! द्विविधं कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-प्रदेशकर्म च, अनुभाग कर्म च । तत्र यत् तत् प्रदेशकर्म तद् नियमाद् वेदयति, तत्र यत् तत् अनुभागे कर्म, तत् अस्त्येकर्कं वेदयति अस्त्येककं नो वेदयति । ज्ञातमेतदर्हता, स्मृतमेतदर्हता, विज्ञातमेतदर्हता इदं कर्माऽयं जीवः आभ्युपगामिकया वेदनया वेदयिष्यति । इदं कर्माऽयं जीव औपक्रमिकया वेदनया वेदयिस्यति । यथाकर्म यथानिकरणं यथा यथा तद् भगवती दृष्टं तथा तथा तत् विपरिणंस्यति इति । तत्तेनार्थेन गौतम ! नैरयिकस्य वा यावत् मोक्षः ।

## शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! जो पाप कर्म किया है उसे भोगे बिना नारकी, तिर्यंच मनुष्य या देव का मोक्ष नहीं होता ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, कृत कर्म को भोगे बिना नारकी का, तिर्यंच का, मनुष्य का या देव का मोक्ष-छुटकारा-नहीं होता ।

प्रश्न—भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं कि—यावत् नारकी आदि का मोक्ष नहीं होता ?

उत्तर—गौतम ! यह निश्चित है कि मैंने कर्म के दो भेद कहे हैं। वह इस प्रकार—प्रदेश कर्म और अनुभाग कर्म। इनमें जो प्रदेश कर्म है वह अवश्य भोगना पड़ता है और जो अनुभाग कर्म है वह कुछ वेदा जाता है और कुछ नहीं भी वेदा जाता। यह बात अर्हन्त द्वारा ज्ञात है, स्मृत है और विज्ञात है कि यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिक ( स्वेच्छा से स्वीकृत ) वेदना से वेदेगा, यह जीव इस कर्म को औपक्रमिक वेदना से वेदेगा। बाँधे हुए कर्म के अनुसार, निकरणों के अनुसार जैसा-जैसा भगवान ने देखा है, वैसे-वैसे वह विपरिणाम पाएगा। इसलिए गौतम! इस हेतु से ऐसा कहता हूं कि—यावत् किये कर्मों को भोगे बिना नारकी का, तिर्यंच का, मनुष्य का या देव का छुटकारा नहीं है।

## व्याख्यान

पहले कर्म विशेष के संबंध में प्रश्नोत्तर हुए थे। अब कर्म सामान्य के संबंध में प्रश्न और उत्तर हैं। गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि, नारकी, तिर्यञ्च मनुष्य और देव—इन चारों में से कोई भी क्यों न हो, जिसने पाप कर्म किये हैं, वह उन्हें

भोगे विना क्या छुटकारा नहीं पा सकता ? अर्थात् कृत कर्म क्या सब को अवश्य ही भोगने पड़ते हैं ?

पाप कर्म का अर्थ है—अशुभ कर्म, जिनसे नरक आदि दुर्गति प्राप्त होती है। इस पर यह शंका उठती है कि जिन कर्मों से जीव देवगति पाता है, उन कर्मों को पाप कर्म-अशुभ कर्म कहा जाय या नहीं ? इसका समाधान यह है कि सामान्य रूप से कर्म मात्र ही पाप हैं। कर्म मात्र दुष्ट हैं। जो मुक्ति में व्याघात रूप है, उसे पाप कहने में कोई हानि नहीं है।

अशुभ कर्म तो पाप कहलाते ही हैं लेकिन यहाँ शुभ और अशुभ-दोनों प्रकार के कर्मों को पाप कहा है। जैसे सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी—बंधन की दृष्टि से समान हैं, उसी प्रकार मोक्ष के प्रतिबंधन के रूप पुण्य और पाप समान हैं। ममता होने पर सोना चाहे प्रिय लगे लेकिन ममता हट जाने पर पुद्गल की दृष्टि से पत्थर और सोना दोनों समान हैं। जिस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में पत्थर और सोना समान हैं उसी प्रकार पुण्य और पाप मोक्ष के लिए बंधन रूप होने से कदाचित समान हैं। मगर यह नहीं भूलना चाहिए कि पुण्य और पाप में कथंचित् समानता होने पर भी मोक्ष मार्ग की साधना के लिहाज से दोनों में अन्तर भी है। नरक गति अशुभ कर्म प्रकृति है और मनुष्यभव पुण्यप्रकृति है। इनमें एकान्त समानता नहीं है। मनुष्यभव मोक्ष का निमित्त कारण है, जब कि

नरक गति नहीं है। इस प्रकार अनेकान्तवाद का आश्रय लेने से ही सर्वत्र वस्तुतत्व निर्दोष सिद्ध होता है। अतएव यहाँ अशुभ और शुभ दोनों प्रकार के कर्मों को पाप में गिना है सो अपेक्षा-विशेष से ही समझना चाहिए।

संसार के प्राणी दुःख को दुःख और सुख को सुख मान कर सुख को चाहते हैं। लेकिन जब तक संसार के सुख की कामना बनी हुई है तब तक संसार के बंधन से छुटकारा नहीं मिल सकता। जब जीव संसार के दुःख और सुख दोनों को बंधन समझ लेता है तभी इस बंधन से निकलने का उपाय करता है। ऐसा होते हुए भी लोग दुःख को छोड़ना चाहते हैं, सुख को नहीं छोड़ना चाहते। बल्कि दुःख को छोड़ना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन सुख को छोड़ना है। अर्थात् अशुभ कर्म को छोड़ने की अपेक्षा शुभ कर्म को छोड़ना कठिन हो जाता है।

मूलपाठ में पाप कर्म का स्पष्ट उल्लेख है, इसलिए पाप कर्म का ही ग्रहण करना उचित है। पाप कर्म कहने से पुण्य कर्म को ग्रहण करना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार की आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे पाप कर्म विना भोगे नहीं छूटते उसी प्रकार पुण्य कर्म भी विना भोगे नहीं छूटते। अगर यहाँ पुण्य कर्म का ग्रहण न किया जाय तो क्या वे विना भोगे छूट जाते हैं? पुण्य कर्म भी पाप कर्म की भाँति भोगने ही पड़ते हैं और उनके विषय में अलग प्रश्न नहीं किया गया है, अतएव

पाप कर्म में पुण्य कर्म और पाप कर्म दोनों ही अन्तर्गत मानना चाहिए।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया—गौतम ! तुम जो कहते हो, वही बात है। अर्थात् जीव ने जो पाप कर्म किये हैं उन्हें भोगे बिना किसी भी योनि के जीव नहीं छूटते।

यहाँ यह आशंका हो सकती है—राजा परदेशी ने ऐसे घोर पाप कर्म किये थे कि एक-एक नरक में कई-कई बार जाने पर भी वे छूट नहीं पाते। फिर भी वह नरक में न जाकर स्वर्ग गया और महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष जायगा। उसका छुटकारा पाप कर्म भोगे बिना कैसे हो गया? इस प्रकार के और-और उदाहरण भी मिलते हैं। इस बात को लक्ष्य में लेकर गौतम स्वामी भगवान से प्रश्न करते हैं—भगवन् ! आप यह किस कारण से कहते हैं कि चारों योनियों के जीव कर्म भोगे बिना नहीं छूटते ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवन् कहते हैं—गौतम ! निश्चय समझ कि मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये हैं—एक प्रदेश कर्म, दूसरा अनुभाग कर्म। प्रदेश कर्म को तो जीव निश्चय ही भोगता और अनुभाग कर्म कोई वेदा जाता है, कोई नहीं वेदा जाता।

मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये यह कहने का अभिप्राय यह है कि केवली किसी की कही हुई बात सुनकर नहीं कहते,

किन्तु साक्षात् देखकर प्ररूपणा करते हैं। अर्थात् सर्वज्ञ की वाणी स्वावलंबिनी है। यही बात दर्शाने के लिए उक्त वाक्य कहा गया है।

जीव के प्रदेशों में ओत प्रोत हुए कर्म पुद्गल, प्रदेश कर्म कहलाते हैं। अर्थात् जो पुद्गल आत्मा के साथ दूध-पानी की भाँति एकमेक हो गये हैं, उन्हें प्रदेश कर्म कहते हैं। उन प्रदेश कर्मों का अनुभव में आने वाला रस अनुभाग कर्म कहलाता है।

माता पिता बालक को कभी-कभी कोई ऐसी चीज खिलाते हैं जो तत्काल तो कोई फल नहीं दिखलाती लेकिन जवानी आने पर फल देती है। यह बात लोक प्रसिद्ध है। प्रश्न यह है कि इतने दिनों तक वह चीज कहाँ रहती है? इसका उत्तर यह है कि वह चीज़ बालक के खून में मिल गई थी। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अनुकूल संयोग न मिलने से उसने अपना बल नहीं दिखलाया। जब अनुकूल संयोग मिला तो बल दिखलाया। फिर भी यह निश्चित है कि वह वस्तु बालक में विद्यमान थी। यही बात दोनों प्रकार के कर्मों के संबंध में है।

प्रदेश कर्म निश्चय ही भोगे जाते हैं। विपाक में न आ करके भी—अनुभव न होने पर भी प्रदेशकर्म का भोग होता है। आत्मप्रदेश उन कर्म प्रदेशों को अवश्य गिराता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि कोई-कोई कर्म अनुभव में क्यों नहीं आते ? इसका उत्तर यह है कि-जैसे बालक को पूर्वोक्त चीज़ खिलाई लेकिन उसके साथ ही उसका असर रोकने वाली दूसरी चीज़ खिलादी। इस दूसरी चीज़ के खिलाने से पहली वस्तु विपाक में नहीं आई लेकिन प्रदेश में तो वह वस्तु नष्ट हुई ही। यही बात विपाक और कर्मप्रदेश के विषय में है। विपाक में न आने पर भी प्रदेश में ही कर्मों का नाश हो जाता है लेकिन प्रदेश कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं।

विष खालेने पर तत्काल ही उसका असर नहीं होता। यही कारण है कि विष का पूरा असर होने से पहले उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। कर्म का विष भी ऐसा ही है। विपाक में कर्म आने से पहले प्रदेश में ही क्षय कर देने से उनका असर मालूम नहीं होता लेकिन उन्हें भोगना अवश्य पड़ता है।

अगर कोई मनुष्य विष खालेता है तो उसे उतारने का उसका प्रभाव दूर करने का-उपाय किया जाता है। इसी प्रकार कर्म-विष को उतारने का भी उपाय करना चाहिए। कर्मविष की ओर दुर्लक्ष्य नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार साँप का विष उतारा जाता है और वह उतरता भी देखा जाता है, उसी प्रकार ज्ञानियों ने कर्म-विष उतारने का भी उपाय बताया है। वह उपाय करना चाहिए। यह समझना भूल है कि कर्म कर

लिये सो कर लिये अब क्या हो सकता है! कृत कर्म नष्ट भी किये जा सकते हैं। राजा प्रदेशी का उदाहरण हमारे सामने है। राजा को केशी श्रमण का संयोग मिल गया और उनकी कृपा से राजा ने अपने कर्म प्रायः प्रदेशों में ही क्षय कर दिये। यद्यपि राजा प्रदेशी के कर्म प्रदेशों में ही क्षय हो गये लेकिन भोगने अवश्य पड़े।

अनुभाग कर्म कोई वेदा जाता है और कोई नहीं भी वेदा जाता। यथा-आत्मा जब मिथ्यात्व का क्षयोपशम करता है तब प्रदेश से तो वेदता है मगर अनुभाग से वेदना नहीं होती। यही बात अन्य कर्मों के विषय में समझी जा सकती है। सर्प के विष से कोई मरता है, कोई नहीं मरता। विष जिसके विपाक में आ जाता है और उपाय कारगर नहीं होता तब मर जाता है और विष जिसके विपाक में नहीं आता-उपाय लग जाता है वह नहीं मरता। उपाय न लगने से सर्प का विष अवश्य हानि करता है। यही बात अनुभाग कर्म के लिए समझनी चाहिए। उपाय न करने से अनुभाग कर्म भी वेदना पड़ता है। हाँ, ऐसा उपाय किया जा सकता है कि वह वेदना न पड़े। इसका उपाय है भी अवश्य। जैसे सर्प का विष वाला प्रेम के साथ दवा लेता है उसी प्रकार प्रेमपूर्वक धर्म का सेवन करने से कर्मों की बहुत निर्जरा होती है। इस भाव रूप धर्म की वस्तु में आत्मा का जितना बल लगाओगे, वस्तु उतनी ही अधिक गुणकारक होगी।

भगवान ने कहा है—चारों गतियों के प्राणी किये हुए कर्म को भोगते अवश्य हैं परन्तु कोई विपाक से भोगता है, कोई केवल प्रदेश से ही भोगता है।

प्रदेशकर्म और अनुभाग कर्म की वेदना जिस प्रकार होती है उसे अर्हन्त भगवान जानते हैं, छद्मस्थ नहीं जानते। शास्त्र में कहा है कि यह दोनों कर्म किस दो प्रकार से भोगे जाते हैं, यह बात भगवान ने जानी है। और उन्होंने जैसा जाना है वैसा ही दूसरों को बताया है—स्मरण किया है और देश, काल आदि के भेद से-विविध प्रकार से-विशेष रूप से भी जाना है।

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि स्मृति, मतिज्ञान का भेद है और मतिज्ञान केवली में नहीं होता इसलिए स्मृति भी उनमें नहीं हो सकती। फिर यहाँ केवली का स्मरण करना क्यों कहा है? इसका समाधान यह है कि केवली में स्मृति का तो अभाव है—उन्हें किसी वस्तु का स्मरण नहीं करना पड़ता क्योंकि सब पदार्थ प्रत्यक्ष में प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। फिर भी यहाँ स्मरण करना जो कहा गया है उसका कारण यह है कि भगवान के ज्ञान के साथ स्मरण का अव्यभिचार के रूप में सादृश्य है। इसलिए 'सुयं' इस पद से भगवान में स्मृति का अस्तित्व नहीं समझना चाहिए।

भगवान अपने केवलज्ञान से साक्षात् देखते हैं कि यह कर्म है और यह जीव है। दोनों के स्वरूप और संबंध को भगवान

केवलज्ञान से स्पष्ट जानते हैं। भगवान ने केवलज्ञान से भूतकाल को भी देखा है, भविष्यकाल को भी देखा है और वर्त्तमान को भी देखते हैं।

प्रदेशकर्म और अनुभाग कर्म दो प्रकार से भोगे जाते हैं:- आभ्युपगमिक वेदना से और औपक्रमिक वेदना से। भगवान प्रत्यक्ष देखते हैं कि जीव अमुक कर्म को आभ्युपगमिक वेदना से वेदेगा और अमुक को औपक्रमिक वेदना से।

आभ्युपगमिक वेदना स्वेच्छापूर्वक, ज्ञानपूर्वक कर्मफल का भोगना आभ्युपगमिक वेदना कहलाती है। रूढ़ि में आभ्युपगमिक का अर्थ प्रव्रज्या है। दीक्षा लेकर ब्रह्मचर्य पालना, भूमि पर सोना, केशलोंच करना, बाईस परीषह सहना तथा विविध प्रकार का तप करना इत्यादि वेदना जो ज्ञान पूर्वक स्वीकार की जाती है वह आभ्युपगमिक वेदना है। केवली यह जानते हैं कि यह जीव दीक्षा लेकर अपने कर्मों का इस प्रकार से क्षय करेगा।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि केवली भगवान सर्वज्ञ होने से तीनों कालों की सब बातें जानते हैं, फिर 'वेदेगा' इस प्रकार भविष्य के लिए ही क्यों निर्देश किया है ? इसका उत्तर यह है कि भविष्यवाणी करना, भविष्य की घटनाओं को जान लेना महाज्ञानी का ही काम है। महाज्ञानी ही भविष्य कालीन बात अभ्रान्त रूप से समझ सकता है। भूत और

वर्तमान काल की बात तो चाहे कोई भी समझता है। जैसे पुलिस वाले किसी व्यक्ति की चेष्टाएं एवं मुखाकृति देखकर ही उसे चोर समझ लेते हैं और वह वास्तव में चोर होता भी है। यद्यपि वह वर्तमान काल में चोरी नहीं कर रहा है फिर भी अनुमान से भूतकाल की घटना जान ली जाती है। इस प्रकार भूतकाल की बात जानी जाती है और वर्त्तमान काल की बात तो दीखती ही है। मगर सर्वसाधारण लोग भविष्य की बात नहीं जान सकते। उसे जानना ज्ञानियों का ही काम है। जो लोग शास्त्रों के आधार से भविष्यकालीन चन्द्रग्रहण आदि की घटनाओं को पहले ही जानते हैं, वह ज्ञानियों के वचनों के आधार से ही जानते हैं। उनका वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। महाज्ञानी भविष्य की बात वर्त्तमान की भांति स्पष्ट जानते हैं और उनका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही यह कहा गया है कि अमुक जीव, अमुक कर्म को, आभ्युपगमिक वेदना से वेदेगा। यह बात केवली भगवान जानते हैं।

दूसरे प्रकार की वेदना—औपक्रमिकी है। अज्ञानपूर्वक होने वाली वेदना औपक्रमिकी होती है। जो कर्म अपना अबाधा काल पूर्ण होने पर स्वयं ही उदय में आते हैं अथवा जिनकी उदीरणा की जाती है उनका फल भोगना औपक्रमिकी वेदना कहलाती है। अर्हन्त भगवान जानते हैं कि इस प्रकार जिस रूप से कर्म बाँधे हैं, उसी रूप से जीव उन्हें भोगेगा।

'अहा कम्मं' का अर्थ है—यथाकर्म अर्थात् जिस रूप में कर्म बाँधा है उसी रूप से तथा 'अहानिगरणं' का अर्थ है—विपरिणाम के कारणभूत नियत देश, काल आदि करणों की मर्यादा का उल्लंघन न करके—अर्थात् देश-काल आदि की मर्यादा के अनुसार जो कर्म जिस रूप में भगवान ने देखा होगा, वह उसी रूप में परिणत होगा।

कार्य होने के दो प्रकार हैं। कोई कार्य क्रम से होता है, कोई क्रमविपरीत भी होता है। उदाहरण के लिए भोजन को लीजिए। आपने दो तीन बार में दो तीन चीजें खाई। यह खाने का क्रम हुआ। अब देखना यह है कि आपने जो वस्तु पहले खाई है वह पहले पचती है और जो बाद में खाई है वह बाद में पचती है अथवा पहले खाई हुई बाद में और बाद में खाई हुई पहले पचती है। खाई हुई वस्तुओं का पाचन क्रम से होता है या क्रम को उलंघन करके होता है? यह देखा जाता है कि पहले किया हुआ भोजन बाद में और बाद में किया हुआ हुआ पहले भी पच जाता है। यथा—शाक का भोजन बाद में किया और हलुवा पहले खाया। फिर भी हलुवा गरिष्ट होने के कारण देर से पचता है और शाक हल्का होने से पहले ही पच जाता है। कभी-कभी आगे-पीछे किया हुआ भोजन क्रम से आगे-पीछे ही पचता है। इसी प्रकार का भेद 'अहाकम्मं' और 'अहानिगरणं' में बतलाया गया है। मगर आप आहार करते हैं, फिर भी उसके हज़म होने का क्रम आपको मालूम नहीं रहता, तो

अहाकम्मं और अहानिगरणं का भेद—आप कैसे समझ सकते हैं ? यह तो अरिहंत भगवान ने जैसा देखा है वैसा ही परिणत होगा ।

भगवान फर्माते हैं—गौतम ! चारों योनियों के जीव जो कर्म भोगते हैं, वे बिना भोगे नहीं छूटते । इसका विशेष तत्व भगवंतों ने देखा है ।

इस कथन से अगर कोई होनहार वाद ( नियतिवाद ) को सिद्ध करना चाहे तो तुम उसके चक्कर मत फंसना। यह सही है कि ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में जो देखा है वह होगा ही लेकिन ज्ञानियों ने तुम्हारा पुरुषार्थ करना भी देखा है । इस लिए हे भव्य ! तू पुरुषार्थ मत छोड़ । भगवान ने पुरुषार्थ को भी कारण बतलाया है ।

# पुद्गल

मूलपाठ—

प्रश्न—एस णं भंते ! पोग्गले अतीतं, अणंतं, सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! एस णं पोग्गले अतीतं अणंतं, सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया।

प्रश्न—एस णं भंते ! पोग्गले पडुप्पण्णं, सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं।

प्रश्न—एस णं भंते ! पोग्गले अणागयं अणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं । एवं खंधेण वि तिण्णि आलावगा ।। एवं जीवेण वि तिण्णि आलावगा भाणिअव्वा ।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—एष भगवन् ! पुद्गलोऽतीतम्, अनन्तम्, शाश्वतं समयम् 'अभूत्' इति वक्तव्यंस्यात् ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! एष पुद्गलोऽतीतम्, अनन्तम् शाश्वतं समयं 'अभूत्' इति वक्तव्यं स्यात् ।

प्रश्न—एप भगवन् ! पुद्गलः प्रत्युत्पन्नम्, शाश्वतं समयं 'भवति' इति वक्तव्यं स्यात् ?

उत्तर—हन्त, गौतम् ! तच्चैव उच्चारयितव्यम् ।

प्रश्न—एप भगवन् ! पुद्गलोऽनागतम्, अनन्तम्, शाश्वतं समयं 'भविष्यति' इति वक्तव्यं स्यात् ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! तच्चैव उच्चारयितव्यम् । एवं स्कन्धेनापि त्रयः आलापकाः, एवं जीवेनापि त्रयः आलापकाः भणितव्याः ।

## शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! वह पुद्गल परिमाण रहित और सदा रहने वाले अतीत काल में था, यह कहा जा सकता है ?

उत्तर—गौतम ! यह पुद्गल परिमाण रहित और सदा रहने वाले अतीतकाल में था, ऐसा कहा जा सकता है।

प्रश्न—भगवन् ! यह पुद्गल वर्त्तमान, शाश्वत-सदा रहने वाले काल में है; ऐसा कहा जा सकता है?

उत्तर—गौतम ! हाँ, ऐसा कहा जा सकता है (पहले उत्तर के समान ही उच्चारण करना चाहिए।)

प्रश्न—भगवन् ! यह पुद्गल अनंत और शाश्वत भविष्य काल में रहेगा, ऐसा कहा जा सकता है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, ऐसा कहा जा सकता है (पहले की तरह ही उच्चारण करना चाहिए।) इसी प्रकार स्कंध के साथ भी तीन आलापक कहने चाहिए और जीव के साथ भी तीन आलापक कहने चाहिए।

## व्याख्यान

इससे पहले के सूत्र में कर्म का विचार किया गया है। कर्म पुद्गल रूप हैं। कार्माण वर्गणा के पुद्गल आत्मा के साथ चिपक कर कर्म कहलाने लगते हैं। वे कर्म पुद्गल परमाणु रूप कहलाते हैं। इसीलिए गौतम स्वामी अब परमाणु के विषय में प्रश्न करते हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! क्या यह कहा जा सकता है कि बीते हुए अनन्त और शाश्वतकाल में यह पुद्गल थे ?

इस प्रश्न में 'एस' यह सर्वनाम पुद्गल के लिए आया है। 'एस' यह 'एतत्' शब्द का प्रथमा विभक्ति का रूप है। 'एतत्' शब्द का प्रयोग तभी किया जाता है जब वस्तु अत्यन्त समीप में हो। भगवान का ज्ञान तीन लोक में व्याप्त है इस दृष्टि से उनके ज्ञान की अपेक्षा समस्त पुद्गल समीप ही हैं। कोई उनके ज्ञान से दूर नहीं है। यह प्रकट करने के लिए 'एस' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है।

यहाँ अतीतकाल को अनन्त और शाश्वत कहा है। अतीत काल सदा से है, उसकी आदि नहीं है इस कारण वह परिमाण रहित है। परिमाण रहित होने के कारण अनन्त है और अतीतकाल सदा ही रहता है। कभी ऐसा अवसर नहीं आ सकता कि लोक में अतीतकाल न हो। इस कारण अतीत काल को शाश्वत कहा है।

यहाँ पुद्गल का अर्थ परिमाणु मात्र लिया गया है। इस कारण यह शंका उठाई जा सकती है कि स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु यह चार प्रकार के पुद्गल होते हैं; फिर यहाँ सिर्फ परमाणु के विषय में ही प्रश्न क्यों किया गया है? इसका उत्तर यह है कि स्कंध के विषय में अलग प्रश्न किया गया है और स्कंध के अलग हो जाने पर केवल परमाणु ही रहते हैं। अतएव यहाँ परमाणु के विषय में ही प्रश्न किया गया है।

श्री गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर भगवान फर्माते हैं-हाँ, गौतम ! ऐसा कहा जा सकता है कि परमाणु अनन्त एवं शाश्वत अतीत काल में थे।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन् ! क्या यह कहा जा सकता है कि आप जिन पुद्गल परमाणुओं को ज्ञान में देख रहे हैं, वे वर्त्तमान शाश्वतकाल में भी हैं ?

यहाँ वर्तमान काल को भी शाश्वत कहा है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि एक समय में जो वर्त्तमान काल है वही सदा वर्त्तमान काल बना रहता है। वर्त्तमान काल प्रतिक्षण भूतकाल के रूप में परिणत हो रहा है और भविष्यकाल प्रतिक्षण वर्त्तमान बनता जा रहा है। फिर भी सामान्य रूप से वर्त्तमानकाल सदा ही रहता है। ऐसा कोई अवसर नहीं आता जब भूत और भविष्य दो ही काल हों और वर्त्तमानकाल न

हो। एक समय रूप वर्त्तमानकाल विद्यमान रहता है। अतः इसी दृष्टि से उसे शाश्वत कहा है।

भगवान ने उत्तर दिया—हाँ, गौतम! यह कहा जा सकता है कि पुद्गल-परमाणु वर्त्तमानकाल में भी है।

तत्पश्चात् गौतम स्वामी ने पूछा—प्रभो! क्या यह भी कह जा सकता है कि पुद्गल-परमाणु अनन्त और शाश्वत भविष्य काल में भी रहेंगे?

भगवान् ने उत्तर में फ़र्माया—हाँ गौतम! यह भी कहा जा सकता है।

यहाँ यह तर्क उठाया जा सकता है कि परमाणु-पुद्गल तीनों कालों में रहेंगे यह एक साधारण-सी बात है। फिर गौतम स्वमी जैसे ज्ञानी ने प्रश्न किस उद्देश्य से किये? इस तर्क का समाधान यह है कि पुद्गल-परमाणु का त्रैकालिक अस्तित्व एक साधारण बात नहीं है। इस संबंध में विभिन्न दर्शन शास्त्रों ने कई प्रकार की असत् कल्पनाएँ कर रक्खी हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) माध्यामिक सम्प्रदाय (बौद्ध) जगत् को शून्य रूप में स्वीकार करता है। उसके अभिप्राय से कोई भी पदार्थ-जड़ या चेतन-नहीं है। इस प्रकार वह पुद्गल-परमाणु का अस्तित्व ही नहीं मानता।

( २ ) 'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति' अर्थात् जगत् में एक मात्र ब्रह्म ही सत् है। ब्रह्म से भिन्न कोई भी पुद्गल आदि पदार्थ नहीं है। ऐसी अद्वैतवादी वेदान्ती की मान्यता है। इस मत में भी पुद्गल की स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

( ३ ) बौद्धों का एक ज्ञानाद्वैतवादी सम्प्रदाय भी सिर्फ ज्ञान को स्वीकार करता है। ज्ञान के सिवाय और कोई पुद्गल आदि पदार्थ वह नहीं मानता।

( ४ ) जो बौद्ध बाह्य पुद्गल आदि पदार्थों को मानते हैं, वे भी उन्हें क्षणिक मानते हैं। तीनों कालों में विद्यमान रहने वाला नहीं मानते।

( ५ ) किसी-किसी दर्शन वाले सिर्फ परमाणु का ही अस्तित्व मानते हैं, स्कंध को वे नहीं मानते।

सारांश यह है कि इस विषय में इतनी विविध मान्यताएं हैं कि इस संबंध में स्पष्ट विवेचन किये बिना भ्रम दूर नहीं हो सकता। गौतम स्वामी ने सर्व साधारण का भ्रम निवारण करने के लिए ही यह प्रश्न किया। भगवान ने जो उत्तर दिया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमाणु और स्कंध दोनों का ही अस्तित्व है और वह अस्तित्व बौद्धमत के अनुसार क्षण-स्थायी नहीं किन्तु त्रिकालस्थायी है। पुद्गल द्रव्य है और द्रव्य त्रिकालस्थायी है न कभी उसकी उत्पत्ति होती है, न विनाश होता है। कहा भी है—

*नासतो विद्यते भावो नाभावो जायते सतः ।*

अर्थात्—असत् कभी सत् नहीं बनता और सत् कभी असत् नहीं हो सकता।

इस प्रकार परमाणु के विषय में तीन काल संबंधी जो तीन प्रश्न किये गये हैं, इसी प्रकार तीन प्रश्न स्कंध के विषय में भी समझना चाहिए। परमाणु की तरह स्कंध भी तीनों कालों में रहता है। स्कंध तीनों कालों में रहता है, इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक स्कंध तीनों कालों में सदा रहता है। बल्कि इसका आशय यह है कि ऐसा कोई भी समय नहीं आता जब स्कंध न हो और समस्त जगत् परमाणुमय हो जाय।

यहाँ एक बात और विचारणीय है। यहाँ पुद्गल का प्रकरण था और पुद्गल में अणु तथा स्कंध दोनों का समावेश हो जाता था फिर अलग-अलग दोनों का प्रश्न किया गया है?

इसका उत्तर यह है कि परमाणु और स्कंध दोनों का अस्तित्व सिद्ध करने के अभिप्राय से अलग प्रश्न किया है। नैयायिक कहते हैं कि यह सृष्टि पहले परमाणु रूप थी। वह परमाणु मिलकर पहाड़ आदि बन गये हैं। लेकिन जैन शास्त्र कहते हैं कि परमाणु में चार स्पर्श है—मृदुता, कठोरता, हल्कापन और भारीपन। यह चार स्पर्श परमाणु में नहीं होते। जो तेल रेत के एक कण में नहीं है वह रेत के लाखों कणों में भी

नहीं निकल सकता। जो लोग परमाणुओं से संसार मानते हैं उन्हें विचार करना चाहिए कि परमाणु चौस्पर्शी है और संसार आठ स्पर्शी है। आठ आठस्पर्शीपन कहाँ से आगया ?

शास्त्र कहते हैं--जैसे परमाणु अनादि हैं उसी प्रकार स्कंध भी अनादि हैं। परमाणुओं से स्कंध और स्कंध से परमाणु बनता अवश्य है लेकिन परमाणु और स्कंध दोनों ही अनादि काल से चले आये हैं। अगर स्कंध रहित परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानी जायगी तो जगत् की आदि माननी पड़ेगी। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि परमाणु से परमाणु मिलने पर सूक्ष्म स्कंध ही बनता है, बादर स्कंध नहीं बनता। अतएव स्कंध अनादि है और यही प्रकट करने के लिए गौतम स्वामी ने इसके विषय में अलग प्रश्न किया है।

गौतम स्वामी के स्कंध विषयक प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया—गौतम ! परमाणु के विषय में जो कहा गया है, वही स्कंध के विषय में समझो अर्थात् स्कंध भी त्रिकाल में विद्यमान रहता है।

जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति में प्रश्न किया गया है कि सुमेरु पर्वत शाश्वत है या अशाश्वत ? इसके उत्तर में कहा गया है कि सुमेरु शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। द्रव्यास्तिकनय की अपेक्षा नित्य होने से शाश्वत है और पर्यायास्तिक नय से

अनित्य होने के कारण अशाश्वत है। यही बात स्वर्ग, नरक आदि प्रत्येक पदार्थ के विषय में समझनी चाहिए।

जो लोग स्कंध को नहीं मानते, उन्हें परमाणु भी नहीं मानना होगा और अद्वैतवादी की तरह सब को ब्रह्म रूप ही मानना होगा। लेकिन अद्वैतवादी जब ब्रह्म को नित्य मानते हैं तो स्कंध और परमाणु आदि पदार्थों को नित्य क्यों नहीं मानते? अगर वह इन पदार्थों को भी नित्य मानलें तो अद्वैतवाद की जड़ ही उखड़ जाती है।

यह कहा जा सकता है कि सृष्टि को ब्रह्म की बनाई हुई मान लें तो क्या हानि है? लेकिन हम यह पूछते हैं कि सृष्टि पूर्ण है या अपूर्ण? सृष्टि को पूर्ण कहना उचित नहीं है क्योंकि उसकी अपूर्णता पद-पद पर प्रतीत होती है। साधारणतया सब को दो आँखें होती हैं मगर किसी-किसी को एक ही आँख होती है और कोई-कोई जन्मांध होता है। यह अपूर्णता नहीं तो क्या है? सृष्टि अगर ब्रह्म की बनाई हुई है तो तरह-तरह की अनियमितता क्यों देखी जाती है? अगर यह कहा जाय कि जिस जीव ने जैसे कर्म किये हैं उसे वैसा ही फल देने के लिए सृष्टि में विचित्रता पाई जाती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्म ने कर्म के नियम से सब कुछ बनाया है। उसने बिना किसी नियम के, अपनी इच्छा के अनुसार तो नहीं बनाया? अगर ऐसा है तो ईश्वर की स्वतंत्रता में कायम नहीं रह सकती। ईश्वर, जीवों के कर्म के अधीन हो जायगा।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी विचारणीय है। वह यह है कि जीव ने कर्म अनादि से किये हैं या आदि से? अगर अनादि से कहा जाय तो ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि तो आदि काल से है और कर्म सृष्टि से पहले-अनादि कालीन कैसे हो सकते हैं? अगर कर्म आदि हैं तो पहले-पहल जीवों के साथ वह कैसे लगे? अगर ईश्वर ने जबर्दस्ती लगा दिये तो ईश्वर को अत्याचारी मानना पड़ेगा।

इस प्रकार विचार करने पर कर्तृत्ववाद में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। अतएव ईश्वर को सृष्टि का रचने वाला नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार के प्रश्नों के संबंध में आर्यसमाजी कहते हैं कि ईश्वर, जीव, आकाश और कुछ जड़ पदार्थ नित्य हैं। उनका यह भी कहना है कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है परन्तु भोगने में परतंत्र है। कर्म तो जीव स्वेच्छा से कर लेता है मगर फल देना ईश्वर के अधीन है। वही सब के कर्मों की सज़ा देता है। इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ईश्वर सज़ा देने के बदले सज़ा के योग्य कामों को रोकता क्यों नहीं है? वह सज़ा देने में जिस शक्ति का उपयोग करता है उसका उन कामों को रोकने में क्यों नहीं करता? अगर ईश्वर को यह ज्ञान नहीं है कि कौन जीव क्या कर्म करने वाला है तो वह सर्वज्ञ कैसा? और फिर सज़ा देने के लिए सब के किये हुए कामों का हिसाब कैसे रखता है? अगर यह कहा जाय कि ईश्वर जानता सब

कुछ है मगर कर्म करते समय जीवों को रोक नहीं सकता तो फिर ईश्वर आपके कथनानुसार सर्व शक्तिसम्पन्न कैसे हो सकेगा ? अगर वह सब कुछ जानता है, रोकने की शक्ति होने पर भी रोकता नहीं है और पापकर्म करने देता है तो फिर उसे दयालु कौन कहसकता है ? अतएव ईश्वर को जगत्कर्त्ता मानना ठीक नहीं है।

परमाणु और स्कंध के पश्चात् गौतम स्वामी ने जीव के विषय में प्रश्न किया है। वे पूछते हैं—भगवान ! जीव अनन्त और शाश्वत भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान में था, रहेगा और है, यह कहा जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फ़र्माया—हाँ गौतम ! यह कहा जा सकता है।

परमाणु, स्कंध और जीव संबंधी प्रश्न में सारे संसार का पाया रोप दिया गया है। जैन शास्त्र के अनुसार मूल दो ही वस्तुएँ हैं—जड़ और चेतन। यह दोनों ही अनादि हैं। इस पर यह प्रश्न खड़ा किया जा सकता है कि अगर दोनों अनादि हैं तो एक को अविनाशी और दूसरे ( पुद्गल ) को नाशवान क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि पुद्गल भी वास्तव में नाशवान नहीं है। फिर भी पुद्गल को नाशवान् कहने का कारण दूसरा ही है। जीव असंख्यात प्रदेशी है और तीनों कालों में सदा असंख्यात प्रदेशी ही रहता है। उसमें न एक भी प्रदेश की कमी होती है, न वृद्धि ही। पुद्गल ऐसा नहीं है।

वह अनन्त प्रदेशी से घट कर कभी असंख्यात प्रदेशी बन जाता है। मिलना और बिछुड़ना पुद्‌गल का धर्म है। अतएव पुद्‌गल को नाशवान् कहते हैं। यही कारण है कि एक को अविनाशी और दूसरे को विनश्वर कहा जाता है।

# मुक्ति

मूलपाठ—

प्रश्न—छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से अतीतं, अणंतं, सासयं समयं केवलेणं संजमेणं, केवलेणं, संवरेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पवयण-माईहिं सिज्झिसु, बुज्झिसु, जाव-सव्वदुक्खाणं अंतं करिंसु ?

उत्तर—गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-तं चेव जाव-अंतं करिंसु ?

उत्तर—गोयमा ! जे केइ अंतकरा, अंतिम सरीरिआ वा सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसुवा, करेंतिवा,

करिस्संतिवा सव्वे ते उप्पण्णणाणदंसणधरा, अरहा, जिणा, केवली, भवित्ता, तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वापंति, सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसुवा, करेंतिवा, करिस्संति वा, से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव-सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु, पडुप्पण्णे वि एवं चेव, नवरं 'सिज्झंति' भाणियव्वं, अणागये वि एवं चेव, नवरं 'सिज्झिस्संति' भाणियव्वं। जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि, तहा परमाहोहिओ वि, तिण्णि तिण्णि आलावगा भाणिअव्वा।

प्रश्न—केवली णं भंते! मणूसे अतीतं, अणंतं, सासयं समयं जाव अंतं करेंसु?

उत्तर—हंता, सिज्झिंसु, जाव-अंतं करेंसु, एते तिन्नि अलावगा भाणियव्वा छउमत्थस्स जहा, नवरं-सिज्झिंसु, सिज्झंति, सिज्झिस्संति।

प्रश्न—से णूणं भंते! अतीतं, अणंतं सासयं समयं, पडुप्पण्णं वा सासयं समयं, अणागयं अणंतं

वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा, अंतिम-सरी-रिआ वा, सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसुवा, करेंतिवा, करिस्संति वा, सव्वे ते उप्पराणाणाण-दंसणधरा, अरहा, जिणा, केवली, भवित्ता इओ पच्छा सिज्झंति, जाव-अंतं करेस्संति वा ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! अतीतं अणंतं सासयं समयं जाव अन्तं करिस्संति वा ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! उप्पराणाणाणदंसणधरे, अरहा, जिणे, केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! उप्पराणाणाण-दंसण-धरे, अरहा, जिणे, केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—छद्मस्थो भगवन् ! मनुष्यः, अतीतम्, अनन्तम्, शाश्वतं समयं केवलेन संयमेन, केवलेन संवरेण, केवलेन

ब्रह्मचर्यवासेन, केवलाभिः प्रवचनमातृभिरसैत्सीत्, अबुद्ध यावत्-सर्वदुःखानायन्तमकार्षीत् ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थ ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन भगवन् ! एवमुच्यते-तच्चैव यावदन्तम कार्षीत् ?

उत्तर—गौतम ! ये केऽप्यन्तकराः, अन्तिमशरीरा वा सर्वदुःखानामन्तमकार्षुवा, कुर्वन्तिवा, करिष्यन्तिवा सर्वे ते उत्पन्नज्ञानदर्शनधराः, अर्हाः, जिनाः, केवलिनो भूत्वा, ततः पश्चात् सिद्धयन्ति, बुध्यन्ते, मुच्यन्ते, परिनिर्वान्ति, सर्वदुःखानामन्तम कार्षुर्वा, कुर्वन्ति वा, करिष्यन्ति वा; तत् तेनार्थेन गौतम ! यावत्-सर्वदुःखानामन्तम् अकार्षुः, प्रत्युत्पन्नेऽपि एवं चैव, नवरं सिद्धयन्ति, भणितव्यम्, अनागतेऽपि एवं चैव नवरं 'सेत्स्यन्ति' भणितव्यम् । यथा छद्मस्थातथा आधोऽवधिकोऽपि, तथा परमाऽधोवधिकोऽपि; त्रयः त्रयः आलापका भणितव्याः ।

प्रश्न—केवली भगवन् ! मनुष्यः अतीतमनन्तम्, शाश्वतं समयं यावत् अन्तमकार्षीत् ?

उत्तर—हन्त, असैत्सीत्, यावदन्तमकार्षीत्, एते त्रयः आलापका भणितव्याः छद्मस्थस्य यथा, नवरम्—असैत्सुः, सिद्धयन्ति, सेत्स्यन्ति ।

प्रश्न—तत् नूनं भगवन् ! अतीतम्, अनन्तम्, शाश्वतं समयम्, प्रत्युत्पन्नं वा शाश्वतं समयम् अन्तगतमनन्तं वा शाश्वतं समयं ये केऽपि अन्तकरा वा, अन्तिमशरीरा वा, सर्वदुःखाना-मन्तमकार्षुर्वा, कुर्वन्ति वा, करिष्यन्ति वा, सर्वे ते उत्पन्नज्ञान-दर्शन धराः, अर्हा, जिनाः, केवलिनो भूत्वा इतः पश्चात् सिद्‌ध्यन्ति, यावत्-अन्तं करिष्यन्ति वा ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! अतीतम् अनन्तं, शाश्वतं समयं यावत्-अन्तं करिष्यन्ति वा ?

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! उत्पन्नज्ञान-दर्शनधरः, अर्हः, जिनः केवली 'अलमस्तु' इति वक्तव्यं स्यात् ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! उत्पन्नज्ञान-दर्शनधरः, अर्हः, जिनः केवली 'अलमस्तु' इति वक्तव्यं स्यात् ।

तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् !

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में छद्मस्थ मनुष्य केवल संयम से, केवल संवर से, केवल ब्रह्मचर्यवास से और केवल प्रवचन माता से सिद्ध हुआ है ? बुद्ध हुआ है ? और यावत् समस्त दुःखों का नाश करने वाला हुआ है ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न—भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि—पहले के समान कहना चाहिए। पूर्वोक्त छद्मस्थ मनुष्य यावत् अंतकर नहीं हुआ ?

उत्तर—गौतम ! जो कोई अंत करने वाला और चरम शरीरी हुआ और जिसने दुःखों का नाश किया है, जो करता है अथवा करेगा, वह सब उत्पन्न ज्ञान-दर्शन-धारी, अरिहंत, जिन और केवली होकर, फिर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए हैं, निर्वाण को प्राप्त हुए हैं और उन्होंने समस्त दुःखों का नाश किया है, वही करते हैं और वही करेंगे। इस कारण गौतम ! इस हेतु से ऐसा कहा है कि यावत्—

समस्त दुःखों का अन्त किया। वर्त्तमान काल में भी इसी प्रकार जानना। विशेष यह है कि 'सिद्ध होते हैं' ऐसा बोलना। तथा भविष्यकाल में भी इसी प्रकार जानना। विशेष यह कि 'सिद्ध होंगे' ऐसा बोलना। जैसा छद्मस्थ ( के विषय में ) कहा, वैसा ही आधोवधिक और परमाधोवधिक के विषय में समझना चाहिए और उसके तीन आलापक कहने चाहिए।

प्रश्न—भगवन् ! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में केवली मनुष्य ने यावत् समस्त दुःखों का अन्त किया ?

उत्तर—हाँ, गौतम ! वह सिद्ध हुआ, उसने सब दुःखों का अन्त किया। यहाँ भी छद्मस्थ के समान तीन आलापक कहना। विशेष यह है कि सिद्ध हुआ, सिद्ध होता है और सिद्ध होगा, इस प्रकार के तीन आलापक कहने चाहिए।

प्रश्न—भगवन् बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में, वर्त्तमान शाश्वत काल में और अनन्त शाश्वत भविष्यकाल में जिन अंतकरों ने, चरमशरीर वालों ने सब दुःखों का

नाश किया, करते हैं और करेंगे, वह सब उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारी अरिहंत, जिन और केवली होकर फिर सिद्ध होते हैं। यावत्–सब दुःखों का नाश करेंगे ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में यावत् सब दुखों का अन्त करेंगे।

प्रश्न—भगवन् ! वह उत्पन्नज्ञान-दर्शनधर, अरिहंत, जिन और केवली 'अलमस्तु' अर्थात् पूर्ण हैं, ऐसा कहना चाहिए ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, वह उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारी, अरिहंत, जिन और केवली पूर्ण हैं, ऐसा कहना चाहिए।

भगवन् ! ऐसा ही है ! भगवन् ! यह ऐसा ही है।

## व्याख्यान

पहले प्रश्नोत्तर में परमाणु आदि जड़ पदार्थ का तथा जीव का अस्तित्व प्रकट किया गया था। यहाँ यह बतलाते हैं कि जीव अगर अनादि है तो वह भव-बंधन से कभी छूटता है या नहीं ? यह जानने के लिए ही गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं। कई लोगों की धारणा है कि जो वस्तु अनादि से है,

उसका कभी अभाव नहीं होता। भवबंधन भी अनादि है अतएव उसका कभी अभाव नहीं हो सकता। भवबंधन का अभाव न होने से मोक्ष होना संभव नहीं है। हाँ, मोक्ष को थोड़े समय के लिए विश्रामस्थान भले ही मान लिया जाय। इस बात को स्पष्ट करने के लिए गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं।

अगर यह मान लिया जाय कि अनादि संबंध कभी टूटता ही नहीं है तो अज्ञान अनादि काल से है या आदिकाल से? अगर अनादि काल से है तो ज्ञान कभी होना ही नहीं चाहिए। अनादि अज्ञान का आत्मा के साथ जो संबंध है वह टूट कर ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता। लेकिन अज्ञान का नाश होता और ज्ञान की प्राप्ति भी होती है। इसी प्रकार मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है। अनादि कालीन प्रागभाव का नाश होता है, यह प्रायः सर्व सम्मत है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में छद्मस्थ मनुष्य केवल संयम से, केवल संवर से, केवल ब्रह्मचर्य से, केवल प्रवचनमाता से अर्थात् पाँच समितियों और तीन गुप्तियों के पालन से सिद्ध, बुद्ध यावत् सब दुःखों का नाश करने वाला हुआ है?

छद्मस्थ शब्द का अर्थ है—ढँका हुआ। अर्थात् जिनका ज्ञान किसी आवरण से आच्छादित होरहा है—ढँका रहा है—वह छद्मस्थ कहलाता है।

अवधिज्ञान वाले मनुष्य का ज्ञान भी आवरण से ढँका होता है, तथापि यहां उसका ग्रहण नहीं करना चाहिए। जिसे अवधिज्ञान नहीं है, उसे ही यहां छद्मस्त समझना चाहिए, क्यों कि आगे अवधिज्ञानी के लिए अलग प्रश्न किया गया है। अगर यहां अवधिज्ञानी भी छद्मस्त पद से ले लिया जाय तो वह प्रश्न निरर्थक हो जायगा। जिन्हें केवलज्ञान नहीं है, ऐसे सभी जीव छद्मस्त पद में अन्यत्र समझे जाते हैं परन्तु यहाँ अवधिज्ञान से भी रहित जीवों को छद्मस्त समझना चाहिए।

भाषाशास्त्र के अनुसार जो अर्थ एक सूत्र में गर्भित होजाता है, उस अर्थ को प्रकट करने वाला दूसरा सूत्र निरर्थक होजाता है। जब दूसरा सूत्र मौजूद हो तो उसके लिए जगह रखनी चाहिए। कल्पना कीजिए–किसी आदमी ने दो मनुष्यों को आमत्रंण देकर बुलाया। उनमें से एक पहले आगया। वह आसन पर बैठ गया। दूसरा आदमी बाद में आया तो पहले आने वाले को चाहिए कि आसन पर जगह करके इसे भी बैठने दे। अन्यथा इस दूसरे आदमी का आना निरर्थक हो जायगा। इसी प्रकार जब अवधिज्ञानी का वर्णन अलग है और छद्मस्त के वर्णन में भी अवधिज्ञानी का वर्णन कर दिया जायगा तो अवधिज्ञानी वाला सूत्र निरर्थक हो जायगा। अतएव छद्मस्त के वर्णन में अवधिज्ञानी का वर्णन नहीं करना चाहिए किन्तु अवधिज्ञानी का वर्णन अवधिज्ञानी वाले सूत्र

के लिए सुरक्षित रखना चाहिए। अवधिज्ञानी वाला सूत्र निरर्थक न हो इसीलिए टीकाकार ने कहा कि—यहाँ छद्मस्त का अर्थ अवधिज्ञानी को छोड़ कर है।

यहाँ केवल का अर्थ है—सिर्फ, अकेला, दूसरे की सहायता के बिना ही। यद्यपि 'केवल' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—

केवलमेगं सुद्धं वा सगलमसाहरणं अणंतं च।

अर्थात—अकेला, शुद्ध, सम्पूर्ण, असाधारण और अनन्त इन अर्थों में केवल शब्द का प्रयोग होता है।

पृथ्वीकाय, अपकाय, आदि षट्काय के जीवों की सम्यक् प्रकार से यतना करना संयम कहलाता है। यह व्याख्या इतनी व्यापक है कि संयम के अन्तर्गत सभी बातें इसमें आजाती हैं।

यहां केवल संयम कहा है। इसका अर्थ है—दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला संयम, अथवा शुद्ध संयम अथवा परिपूर्ण संयम अथवा असाधारण संयम। श्रीगौतमस्वामी पूछते हैं कि इस प्रकार का संयम पालने वाला छद्मस्थ मनुष्य अतीत काल में सिद्ध हुआ है।

संयम के बाद 'केवल संवर' के विषय में प्रश्न किया है। इन्द्रियों और कषायों को रोकना संवर कहलाता है। केवल शब्द का अर्थ वही है जो पहले बतलाया जा चुका है। केवल

संयम के साथ ही गौतम स्वामी पूछते हैं—केवल संवर करने वाला छद्मस्त भूत काल में सिद्ध हुआ है।

केवल ब्रह्मचर्यवास और केवल प्रवचन माता अर्थात् पाँच समितियां और तीन गुप्तियाँ—इन दो पदों का अर्थ स्पष्ट ही है।

उपशान्त मोहनीय नामक ग्यारहवें गुण स्थान में सम्पूर्ण कषाय का विजय और सम्पूर्ण इन्द्रियों का निरोध होकर यथाख्यात चरित्र होता है। इस अवस्था में विशुद्ध संयम आदि विद्यमान हैं और विशुद्ध संयम ही मुक्ति का साधन है। यह विशुद्ध संयम उपशान्त मोह वाले में मौजूद है और वह छद्मस्त है, तो क्या वह उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है? इसी प्रकार बारहवें क्षीणमोहनीय गुणस्थान में विशुद्ध संयम आदि हैं लेकिन उस गुणस्थान वाला मनुष्य छद्मस्त है तो क्या वह उसी गुणस्थान से मुक्ति प्राप्त कर सकता है?

वस्तव में यह प्रश्नोत्तर ज्ञान और क्रिया—दोनों को मोक्ष का साधन प्रकट करने के लिए है। दोनों में से एक के अभाव में मुक्ति नहीं मिलती। मगर कई लोग अकेली क्रिया से मोक्ष मानते हैं और कई अकेले ज्ञान से। दोनों एकान्तवादी परस्पर विवाद में पड़कर अपना-अपना समर्थन करते हैं। ज्ञानवादी कहता है—अगर अकेली क्रिया से मोक्ष हो तो ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में पूर्ण क्रिया—यथाख्यात चरित्र है, फिर

भी मोक्ष क्यों नहीं मिलती ? इसी प्रकार एकान्त क्रिया से मोक्ष मानने वाला कहता है—अगर ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है तो तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में जाने की क्या आवश्यकता है ? तेरहवें गुणस्थान में ही पूर्ण ज्ञान होजाता है, इस लिए वहीं मोक्ष होजाना चाहिए।

ज्ञान और क्रिया के संबंध में इस प्रकार का विवाद है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए गौतम स्वामी ने उक्त प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फ़र्माया—गौतम यह अर्थ समर्थ नहीं है।

तब गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन् ! ऐसा क्यों ? तब भगवान फ़र्माते हैं--गौतम ! जितने मनुष्य संसार का अर्थात् जन्म-मरण का अन्त करने वाले हुए हैं, वे सब चरम शरीरी थे। ऐसे जिन चरम शरीरियों ने मोक्ष प्राप्त किया है, जो करते हैं या करेंगे, वे सब उत्पन्न ज्ञान--दर्शन को धारण करने वाले अर्हन्त, जिन, केवली होकर ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए हैं, होते हैं और होंगे।

जिन्हें अनादि--सिद्ध ज्ञान नहीं किन्तु जो उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले हैं उन्हें 'उत्पन्नज्ञान दर्शनधर' कहते हैं। इस विशेषण से अनादी मुक्तात्मा मानने वाले मत का निराकरण किया गया है। कई लोगों का यह कथन है कि ईश्वर अनादी काल से, स्वतः सिद्ध ज्ञानवान है।

उसे कर्मक्षय की आवश्यकता नहीं है। लेकिन जैनशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि समस्त ज्ञानियों को कर्मक्षय करने के पश्चात् ही केवल ज्ञानदर्शन प्राप्त होता है।

अर्हा का अर्थ है—पूजा के योग्य। जैसा पूज्य होता है वैसी ही उसकी पूजा की जाती है। लोक में भी किसी देव की पूजा तेल-सिंदूर से की जाती है, किसी की केसर-चन्दन से। केसर से पूजने योग्य देव की पूजा अगर तेल-सिंदूर से करें तो वह पूजित नहीं समझा जाता और यही कहा जाता है कि जैसा देव वैसी पूजा होनी चाहिए। यही बात अर्हन्त के लिए है। अर्हन्त किस प्रकार की पूजा के योग्य हैं यह समझने की बात है। अर्हन्त की पूजा सब से पहले गणधर ही करते हैं। आगे के पाठ में आया है कि गौतम स्वामी ने भगवान की पूजा की, तो क्या उन्होंने पुष्प चढ़ाकर उनकी पूजा की थी? कदाचित् यह कहा जाय कि गौतम स्वामी मुनि थे और मुनियों को सचित्त पदार्थ का स्पर्श करना भी नहीं कल्पता है मगर हम लोग गृहस्थ हैं इस लिए हमें ऐसी पूजा करने की छुट्टी है; तो इसके लिए चरितानुयोग देखना चाहिए। कोणिक राजा ने भी भगवान की पूजा की थी। कोणिक, भगवान के पास सचित्त वस्तु—फूल—फल आदि तथा शस्त्र लेकर नहीं गया था। उसने मन, वचन, काय से पूजा की थी। अर्हन्त भगवान पर एकान्त भाव धारण करना, उन्हें ही आराध्य देव मान कर सब तरफ से मन को हटा लेना, मन से

पूजा करना कहलाता है। भगवान के वचन को तथ्य है, सत्य है आदि कहना और उनकी स्तुति करना वचन से पूजा है तथा पंचांग नमस्कार नमन करना कायिक पूजा है। इस प्रकार की पूजा के योग्य जो हैं उन्हें अर्हन्त या अर्ह कहते हैं। यही भगवान की उत्कृष्ट एवं अपूर्व पूजा है।

जिसने राग-द्वेष आदि आत्मिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली हो वह वीतराग पुरुष 'जिन' कहलाता है।

भगवान ने फर्माया—हे गौतम! छद्मस्थ मोक्ष नहीं गये हैं, न जाते हैं न जावेंगे किन्तु जो अर्हन्त, जिन और केवली होते हैं वही मोक्ष गये हैं, जाते हैं और जाते रहेंगे।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होगया कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान और क्रिया—दोनों की आवश्यकता है। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण क्रिया होने पर ही मोक्ष होता है। ज्ञान और क्रिया दोनों के बिना काम नहीं चलता। 'नह्येक चक्रेण रथः प्रयाति' अर्थात् एक पहिये से रथ नहीं चलता। इसी प्रकार अकेले ज्ञान और अकेली क्रिया कार्यसाधक नहीं है। दो पहियों से रथ चलता है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है।

छद्मस्थ के विषय में प्रश्न के पश्चात् गौतम स्वामी अवधि-ज्ञानी के संबंध में पूछते हैं कि—प्रभो! अवधिज्ञानवाले मनुष्य, जिसे एक देश तुल्य प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होगया है,

क्या अकेले संयम से, अकेले संवर से, अकेले ब्रह्मचर्य से और अकेली प्रवचनमाता की आराधना से सिद्ध हुआ है, सिद्ध होता है या सिद्ध होगा ?

भगवान उत्तर फ़र्माते हैं—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता। केवल ज्ञानी होने पर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

अवधिज्ञान के अनेक भेद-प्रभेद हैं। कोई अवधिज्ञानी अंगुल के असंख्यात भाग को ही जानते हैं और कोई सम्पूर्ण लोक को तथा लोक के बराबर असंख्यात खंड अलोक के भी जानने की शक्ति रखते हैं। इतना प्रबल अवधिज्ञान होने पर तथा यथाख्यात संयम का बल होने पर ही केवल संवर, ब्रह्मचर्यवास और केवल प्रवचनमाता की आराधना से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। केवली होने पर ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

अवधिज्ञान किसे कहते हैं, यह भी समझ लेना चाहिए। 'अवधि' का अर्थ है—मर्यादा। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा के अनुसार उत्पन्न होने वाले और मन एवं इंद्रियों की सहायता के बिना ही जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। तथा—पहले देवलोक के देव नीचे पहले नरक तक जानते देखते हैं और ऊपर अपनी ध्वजा-पताका से आगे नहीं देख सकते। इस प्रकार का अवधिज्ञान जिसे प्राप्त होगया

हो वह भी मोक्ष नहीं जाता। यों तो जिसे लोकाकाश को लांघकर अलोक का एक प्रदेश भी जानने वाला ज्ञान प्राप्त हो जाय वह मनुष्य उसी भव में मोक्ष हो जाता है लेकिन जाता केवली होकर के ही।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन्! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में केवली मनुष्य ने सब दुखों का नाश किया है?

भगवन् फ़र्माते हैं--गौतम! हां, केवली मनुष्य सिद्ध हुए हैं, उन्होंने सब कर्मों का नाश किया है। इसी प्रकार करते हैं और करेंगे।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि छद्मस्थ संबंधी उत्तर में भगवान ने फ़र्मा दिया था कि केवली ही मोक्ष जाते हैं, तब केवली के विषय में यह प्रश्न अलग क्यों किया गया है?

इसका ठीक कारण तो पूर्णज्ञानी ही जाने लेकिन पुनः प्रश्न करने का प्रयोजन यह मालूम होता है कि एक ही प्रश्न को दूसरी बार पूछने से और भगवान का उत्तर सुनने से ज्ञान में विशेष विकास और दृढ़ता आती है। इस अभिप्राय के सिवाय और क्या गंभीर अभिप्राय था। यह नहीं कहा जा सकता।*

---

* दुबारा प्रश्न करने के संभवतः दो उद्देश्य और हो सकते हैं। प्रथम यह कि छद्मस्थ वाले प्रश्न में निषेध प्रधान है

जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब मनुष्यभव से ही हुए हैं। मनुष्य के सिवा और कोई जीव चरमशरीरी नहीं हो सकता। चरमशरीरी हुए विना केवली नहीं हो सकता और केवली हुए बिना मोक्ष होना असम्भव है। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि, अगर ऐसा है तो मोक्ष की आदि होनी चाहिए। अर्थात् कोई खास समय ऐसा होना चाहिए जब मनुष्य पहले-पहल मोक्ष गया और उससे पहले कोई मोक्ष नहीं गया था। क्या यह सत्य है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह नतीजा निकालना ठीक नहीं है, क्योंकि मनुष्य अनादिकाल से चला आता है अतएव मोक्ष भी अनादिकाल से ही है। जैसे काल अनादि और अनन्त है उसी प्रकार प्रवाह रूप से मनुष्य से

---

और केवली वाले प्रश्न में विधि प्रधान है। अर्थात् पहले उत्तर की मुख्य ध्वनि यह है कि छद्मस्थ मोक्ष नहीं पा सकता और दूसरे उत्तर का मुख्य लक्ष्य यह है कि केवली अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि पहले प्रश्न के उत्तर से यह प्रकट हो गया था कि छद्मस्थ मोक्ष नहीं जाते, केवली ही मोक्ष जाते हैं। दूसरे प्रश्न के उत्तर में यह सूचित किया गया है कि केवली मोक्ष ही जाते हैं, अन्यत्र नहीं जा सकते। दूसरे कई लोग मुक्ति नहीं मानते, कई मानते तो हैं मगर मुक्ति को 'सासयं' (शाश्वत) नहीं मानते, उनका निषेध करने के अभिप्राय से यह प्रश्न पूछा गया हो, यह बहुत कुछ संभव है।

—सम्पादक

अनादि और अनन्त है। इस कारण मोक्ष भी अनादि अनन्त है। इसीलिए गौतम स्वामी ने शाश्वत काल के विषय में प्रश्न किया है।

भगवान फर्माते हैं--केवली भूतकाल में भी मोक्ष गये हैं, भविष्य में भी मोक्ष जाएँगे और वर्त्तमान में भी जाते हैं।

अब भूत, भविष्य और वर्त्तमान, इन तीनों कालों को मिलाकर गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं--भगवन् बीते हुए अनंत शाश्वत काल में, वर्त्तमान शाश्वत काल में और अनन्त शाश्वत भविष्य काल में अन्त करने वालों ने अंतिम शरीर वालों ने सब दुःखों का अंत किया है, करते हैं या करेंगे ? वे सब उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधर, अर्हन्त, जिन तथा केवली होकर ही सिद्ध होते हैं सब दुखों का अन्त करते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया-हाँ, गौतम ! ऐसा ही है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन् ! उत्पन्न ज्ञानदर्शनधर, अरिहंत, जिन और केवली "अलमस्तु" कहलाते हैं ?

'अलमस्तु' का अर्थ है—पूर्ण। जिन्होंने प्राप्त करने योग्य सब ज्ञानादि गुण प्राप्त कर लिये हैं, कुछ भी प्राप्त करने योग्य शेष नहीं रहा है वे पूर्ण या अलमस्तु कहलाते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया—हाँ, गौतम ! उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधर, जिन और केवली अलमस्तु कहलाते हैं।

इस प्रश्नोत्तर से यह भी प्रतीत हो जाता है कि मुक्तात्माओं को फिर कभी संसार में अवतार नहीं लेना पड़ता। जैसा कि आजीवक आदि अनेक मत वाले मानते हैं। मुक्ति शाश्वत है। गाथा—

सेवं भंते ! सेवं भंते ! गौतम बोल्या सई।
श्रीवीरजी रा वचनां में सन्देह नहीं।
हाथ जोड़ी मान मोड़ी गौतम बोल्या सई।
श्री वीरजी का वचना में सन्देह नहीं।

अन्त में गौतम स्वामी ने कहा—प्रभो ! आपका कथन सत्य है। मैं पूर्ण ज्ञानी नहीं हूं। आप पूर्ण ज्ञानी हैं। आपका कथन शंका से परे है।

गौतम स्वामी के इस कथन में बहुत गहरा तत्व है। अगर आपके हृदय में यह विचार घर कर ले तो बुद्धि की सारी खटपट समाप्त होजाय और कल्याण का भव्यद्वार खुल जाए।

॥ प्रथम शतक का चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

# श्रीमद्भगवती सूत्र

## प्रथम शतक पंचम उद्देशक

### विषय प्रवेश

चौथे उद्देशक तक का व्याख्यान देहली चातुर्मास में पूर्ण हो गया था अब पाँचवाँ उद्देशक आरम्भ किया जाता है। आचार्यों की कृपा से गणधरों की वाणी सूत्रों में लिखी हुई है। पंचमकाल के लोगों के लिए यह बड़ी कल्याणकारिणी है। उनका अहोभाग्य है कि जिन्हें भगवान की पवित्र वाणी सुनने का अवसर प्राप्त होता है। सूत्र की वाणी हर्ष के साथ श्रवण करना चाहिए।

चौथे उद्देशक के अन्त में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया था भगवन्! अर्हन्त जिन केवली को 'अलमस्तु' कह सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया था—हाँ, गौतम! कह सकते हैं।

गौतम स्वामी के इस प्रश्न में अनेक रहस्य छिपे हैं। संसार में जब भ्रम फैल जाता है तो उत्तम तत्व का कुछ का कुछ अर्थ होने लगता है। अर्थ की इस विपरीतता के कारण वातावरण में गंदगी फैलने लगती है। गौतम स्वामी ने संसार को गंदगी से बचाने के उद्देश्य से यह प्रश्न किया था।

उत्तम तत्व के अर्थ में विपर्यास होने का कारण यह है कि कुछ लोग ज्ञान या योग की सिद्धि हो जाने पर मन की बात या सीमित भूत-भविष्य की बात बतलाने लगते हैं। लोग श्रद्धा और अज्ञता के कारण उन्हें पूर्ण पुरुष मान लेते हैं। इस प्रकार से बने हुए पूर्ण पुरुष की दो-चार अच्छी बातों के साथ कई खराब बातें भी निभ जाती हैं। नतीजा यह होता है कि अनादर्श पुरुष आदर्श माना जाने लगता है। अपूर्ण पुरुष को पूर्ण मान बैठना पूर्ण पुरुष की अवज्ञा करना है। गौतम स्वामी के इस प्रश्न द्वारा योगियों को सावधान किया गया है कि तुम्हारी शक्ति चाहे कितनी ही क्यों न हो अपने आपको अपूर्ण ही समझो—'अलमस्तु' मत मानो। इसके साथ ही संसार के लोगों को भी यह शिक्षा दी गई है कि तुम्हारे मन कि जरासी बात पूरी हो जाने के कारण तुम उन साधक योगियों की मिथ्या प्रशंसा करके उनकी उन्नति मत रोको। उन्हें अवनति के गडढे में न डालो।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संसार में पूर्ण पुरुष किसे माना जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जिसने

अनादि कालीन राग-द्वेष आदि समस्त आत्मिक विकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त करली है, जिसका ज्ञान पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है--जिससे कोई बात छिपी नहीं है। इस प्रकार जो जिन, अर्हन्त और केवली हो, वही पूर्ण पुरुष है।

चार ज्ञान के धनी और अनुपम बुद्धि के अक्षय भंडार गौतम स्वामी पूर्ण पुरुष–'अलमस्तु' की व्याख्या न जानते हों यह संभव नहीं। लेकिन उन्होंने संसार का भ्रम मिटाने के लिये अपने मुख से न कहकर, विशेष श्रद्धा एवं प्रतीति उत्पन्न करने के लिए ही भगवान के मुखारविन्द से कहलाया है। स्वयं जानते हुए भी महापुरुष से कहलाने की बड़ी अच्छी दलाली गौतम स्वामी ने की है।

भगवान के मुख से कहलाने में एक सूचना और भी है। तुच्छ-बुद्धि मनुष्य अपने मन में सोचते हैं कि किसी बात का निर्णय अगर दूसरे महापुरुष से कराऊंगा तो मेरी लघुता प्रकट होगी। लोग समझेंगे इन्हें इतना भी नहीं आता। मगर गौतम स्वामी में यह निर्बलता नहीं थी। उनमें ऐसा विचार होता तो उनके हृदय से गुरुभक्ति चली जाती। इसके साथ ही भगवान से निर्णय न कराने पर और स्वयं ही निर्णय कर लेने पर वह पद भी चक्कर में पड़ जाता, जिस पर वह पहुँचना चाहते थे। वह केवली पद राग-द्वेष नष्ट करने पर ही मिल सकता है। राग-द्वेष नष्ट करने के लिए गौतम स्वामी ने अपने आपको लघु बनाने का मार्ग पसंद किया।

पर कर मेरु समान, आप रहे रज कण जिसा।
ते मानव धन जाण, मृत्युलोक में राजिया॥

सचमुच ऐसे महापुरुष ही धन्य है। अहंकारी ठोकरें खाते हैं। अहंकारियों को शुभगति प्राप्त नहीं होती। भारी पत्थर सिर पर नहीं चढ़ता, लेकिन वही पत्थर जब रज-कण बन जाता है तब राजा के भी सिर पर चढ़ जाता है। गौतम स्वामी ने इस प्रश्न का निर्णय भगवान से करवा कर यह शिक्षा दी है कि अगर ऊपर चढ़ना है तो छोटे बनो, पत्थर के समान भारी अहंकारी मत बनो। जिस दिन तुम्हारे भीतर सच्ची लघुता आजायगी उस दिन तुम त्रैलोक्य के भी पूज्य बन जाओगे।

हम जैसे तो गौतम स्वामी के रज-कण के समान भी नहीं है, फिर किस बूते पर हम अभिमान कर सकते हैं? हमारे पास ऐसा कौन-सा विशेष वैभव है, जिस पर हम अभिमान कर सकें? इतने ज्ञानवान् गौतम स्वामी ने भी अभिमान नहीं किया, यह विचार कर अभिमान का त्याग करो। अब भगवती सूत्र के प्रथम शतक के पाँचवे उद्देश्य का व्याख्यान आरंभ होता है।

प्रत्येक उद्देश्यक की तरह इस उद्देश्यक के प्रारंभ में भी पूर्ववत् उपोद्‌घात किया गया है। अर्थात् वह समय, वह काल, नहीं राजगृह नगर, गुणशील उद्यान, आदि बतलाया

गया है। प्रत्येक उद्देश्यक में इस प्रकार का उपोद्घात समय स्थान आदि बतलाने के उद्देश्य से किया गया है।

## मूलपाठ—

प्रश्न—कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

उत्तर—गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, तंजहा—रयणप्पभा जाव तमतमा ।

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए कति निरयावास सयसहस्सा पण्णत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! तीसं निरयावास सयसहस्सा पण्णत्ता । गाहाः—

तीसा य पन्नवीसा पन्नरस दसेव या सयसहस्सा ।
तिन्नेगं पंचूणं पंचेव अणुत्तरा निरया ॥

प्रश्न—केवइया णं भंते ! असुरकुमारा वास सयसहस्सा पवन्नत्ता ?

उत्तर—एवं:—

चउसट्ठी असुराणं चउरासीई य होइ नागाणं ।
बावत्तरिं सुवण्णाणं वाउकुमाराण छन्नउई ॥
दीव-दिसा-उदहीणं विज्जुकुमारिंद-थणियमग्गीणं ।
छण्हं पि जुयलयाणं छावत्तरिमो सयसहस्सा ॥

प्रश्न—केवइया णं भंते ! पुढविक्काइया वास सयसहस्सा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! असंखेज्जा पुढविक्काइयावास सयसहस्सा पन्नत्ता, जाव—असंखिज्जा जोइसिय विमाणा वास सयसहस्सा पन्नत्ता ।

प्रश्न—सोहम्मे णं भंते ! कप्पे केवईया विमाणावासा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! बत्तीसं विमाणावास सय-सहस्सा पन्नत्ता । एवं:—

बत्तीस-ट्ठावीसा बारस-अट्ठ-चउरो सयसहस्सा ।
पन्ना-चत्तालीसा छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥
आणय-पाणयकप्पे चत्तारि सयाऽऽरण-च्चुए तिण्णी ।
सत्त विमाणसयाइं चउसु वि एएसु कप्पेसु ॥
एक्कारसुत्तरं हेट्ठिमेसु सत्तुत्तरं सयं च मज्झमए ।
सयमेगं उवरिमए पंचेव अणुत्तर विमाणा ॥

संस्कृत-छाया

प्रश्न—कति भगवन् ! पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः ?

उत्तर—गौतम ! सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः तद्यथा-रत्नप्रभा यावत्-तमस्तमा ।

प्रश्न—अस्यां भगवन् ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां कति निरयाऽऽवासशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर—गौतम ! त्रिंशद् निरयाऽऽवासशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । गाथा:—

त्रिंशच्च पञ्चविंशतिः पञ्चदश दशैव च शतसहस्राणि ।
त्रीणि एकं पञ्चोनम् पञ्च एवानुत्तरा निरयाः ॥

प्रश्न—कियन्ति भगवन् ! असुर कुमारावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर—एवं:—

चतुः षष्ठिः असुराणां चतुरशीतिश्च भवति नागानाम् ।
द्वासप्ततिः सुवर्णानां वायु कुमाराणां षण्णवतिः ॥
द्वीप-दिग्-उदधीनां विद्युत्कुमारेन्द्र स्तनिताऽग्नीनाम् ।
षण्णामपि युगलकानां षट्सप्ततिः शतसहस्राणि ॥

प्रश्न—कियन्ति भगवन् ! पृथिवीकायिकावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर—गौतम ! असंख्यति पृथिवीकायिकावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । यावद् असंख्येयानि ज्योतिषिक विमानावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ।

प्रश्न—सौधर्मे भगवन् ! कल्पे कियन्तो विमानावास प्रज्ञप्ता:?

उत्तर—गौतम ! द्वात्रिंशद् विमानावस शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । एवं:—

द्वात्रिंशद्-अष्टविंशतिर्द्वादशाष्ट-चत्वारि शतसहस्राणि ।
पञ्चाशत्-चत्वारिंशत् षट् च सहस्राणि सहस्रारे ॥

आनत-प्राणतकल्पे चत्वारि शतानि आरणाच्युते त्रीणि ।
सप्तविमान शतानि चतुर्ष्वपि एतेषु कल्पेषु ॥
एकादशोत्तरयअधस्तनेषु सप्तोत्तरं शतं च मध्यमके ।
शतमेकं उपरितने पञ्च एवं अनुत्तर विमानानि: ॥

## शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! कितनी पृथिवियाँ कही हैं ?

उत्तर—गौतम ! सात पृथिवियाँ कही हैं । वह इस प्रकार हैं–रत्नप्रभा यावत् तमतमाप्रभा ।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में कितने लाख निरयावास–नारकों के रहने के स्थान–कहे हैं ?

उत्तर—गौतम ! तीस लाख निरयावास कहे हैं । सब पृथिवियों में निरयावासों की संख्या बतलाने वाली गाथा इस प्रकार है–पहली पृथ्वो में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवीं में तीन लाख, छठो में पाँच कम एक लाख और सातवीं में सिर्फ पाँच निरयावास कहे गये हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! असुर कुमारों के कितने लाख आवास हैं ?

उत्तर—गौतम ! इस प्रकार हैं—असुर कुमारों के चौंसठ लाख आवास कहे हैं। इसी प्रकार नागकुमारों के चौरासी लाख, सुवर्णकुमारों के बहत्तर लाख, वायुकुमारों के छयानवे लाख तथा द्वीपकुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, विद्युतकुमारेन्द्र, स्तनित कुमार और अग्निकुमार, इन छह युगलकों के छियत्तर लाख आवास कहे हैं।

प्रश्न—भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के कितने लाख आवास कहे हैं ?

उत्तर—गौतम ! पृथ्वीकायिकों के असंख्यात लाख आवास कहे हैं और इसी प्रकार यावत्-ज्योतिष्क देवों के असंख्यात लाख विमानावास कहे हैं।

प्रश्न—भगवन् ! सौधर्म कल्प में कितने विमानावास कहे हैं ?

उत्तर—गौतम ! वहाँ बत्तीस लाख विमानावास कहे हैं। इस प्रकार:—

अनुक्रम से बत्तीस लाख, अट्ठाईस लाख, बारह लाख, आठ लाख, चार लाख, पचास हजार, चालीस हजार विमानावास जानने चाहिए। छह हजार विमानावास सहस्रार देवलोक में हैं। आनत और प्राणत कल्प में चार सौ, आरण और अच्युत में तीन सौ, इन चारों में मिल कर सात सौ विमान हैं। एक सौ ग्यारह विमानावास अधस्तन (निचले ग्रैवेयक) में, एक सौ सात बीच के में, और एक सौ उपर के ग्रैवेयक में हैं। अनुत्तर विमान पाँच ही हैं।

## व्याख्यान

श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया—प्रभो! आपने अपने ज्ञान में देखकर कितनी पृथ्वियाँ कहीं हैं।

चौथे उद्देशक के अन्त में सर्वज्ञ संबंधी प्रश्नोत्तर थे और उसके पश्चात् पाँचवे उद्देशक की आदि में नरक-पृथ्वी संबंधी प्रश्न किया गया है। यहाँ यह देखना चाहिए कि सर्वज्ञ सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के साथ नरक-पृथ्वी के प्रश्नोत्तर में क्या कुछ संबंध है? ऊपरी दृष्टि से देखा जाय तो सर्वज्ञ विषयक प्रश्नोत्तर एवं पृथ्वी संबंधी प्रश्नोत्तर परस्पर असंबद्ध से प्रतीत हो रहे हैं। इस विषय में टीकाकार का कथन है कि यह दोनों प्रश्नोत्तर

असंबद्ध नहीं हैं किन्तु प्रस्तुत पृथ्वी संबंधी प्रश्न सर्वज्ञ विषयक प्रश्नोत्तर से संबंध रखता है। वह संबंध यह है कि सर्वज्ञ पृथ्वी पर ही होते हैं अथवा पृथ्वीकाय रूप गति से निकल कर मनुष्यभव पाकर ही अर्हन्त-सर्वज्ञ होते हैं। अतएव सर्वज्ञ और पृथ्वी का संबंध है।

*'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'*

अर्थात्—जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक बढ़कर हैं।

जिसने जन्मभूमि के महत्व पर विचार किया है, वह इस बात को अवश्य ही स्वीकार करेगा कि अर्हन्त भी इसी भूमि पर होते हैं।

संसार में बिना पगड़ी के, बिना जूते के और बिना कपड़े के काम चल सकता है। इसके अभाव में कोई काम नहीं रुकता। साधु न पगड़ी बांधते हैं और न जूते ही पहनते हैं। कई जिनकल्पी महात्मा कपड़े भी नहीं पहनते। इस प्रकार इनके अभाव में काम चलते तो देखा जाता है लेकिन क्या कोई ऐसा भी है जो पृथ्वी की सहायता के बिना—पृथ्वी का आश्रय लिये बिना रहता हो ? 'नहीं।'

फिर पगड़ी की तो लाज रखते हो, पगड़ी की प्रतिष्ठा बनाये रखने की चिन्ता करते हो मगर इस पृथ्वी की भी

लाज रक्खोगे या नहीं ? जिस पगड़ी के विना काम चल सकता है उसकी लाज रखने की तो चिन्ता करते हो लेकिन जिस पृथ्वी पर स्वयं रहते हो और जिस पृथ्वी पर 'जिन' भी रहते हैं, उसकी लाज रखने की चिन्ता क्यों नहीं करते ?

गौतम स्वामी ने चौथे उद्देश्य के अन्त में आधेय का प्रश्न किया था और इस पाँचवे उद्देशक के आरंभ में आधार का प्रश्न किया है। बहुत से लोग आधार का महत्व ही नहीं समझते। कई जैनधर्मी भी कहते हैं कि यह तो पृथ्वीकाय का जीवन है, इसमें क्या धरा है ? लेकिन अगर पृथ्वीकाय में कुछ न होता तो गौतम स्वामी भगवान से प्रश्न ही क्यों करते ?

यह पृथ्वी आधार है और इस पर रहने वाले आधेय हैं। भगवान ने शास्त्र में कहा है—'पाढ़वं शरीरं।' अर्थात् यह शरीर पार्थिव है-- पृथ्वी से पैदा होने वाला है।

एक प्रश्न पर विचार कीजिए--आप अपनी माँ के बेटे हैं या पृथ्वी के ? माँ और पृथ्वी में कौन बड़ी है ? शास्त्र में शरीर को पार्थिव कहा है। इस कथन द्वारा माता का उपकार भुलाया नहीं है किन्तु बढ़ाया है क्योंकि माँ का शरीर भी पृथ्वी से ही बना हुआ है शरीर में आने वाला एक-एक श्वास भी पृथ्वी का ही है। माता को न भूलना तो गुण है ही लेकिन पृथ्वी को भूल जाना कृतघ्नता है। माता बालक को नौ मास तक अपने पेट में रखती है लेकिन आखिर वह पेट में रखकर

भी रहती तो पृथ्वी पर ही है इसके अतिरीक्त जन्म देकर पृथ्वी पर ही रखती है

विज्ञान का कथन है कि यदि मनुष्य नियमित जीवन बितावे तो वह एक सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है। एक दीपक में जो तेल भरा है, उसे एक ही बत्ती द्वारा जलाने पर रात भर प्रकाश दे सकता है। अगर उस में चार वत्तियाँ जलादी जाएँ तो वह तेल रात भर कैसे प्रकाश दे सकता है? इसी प्रकार अनियमित जीवन पूर्णायु कैसे प्राप्त कर सकता है? आजकल लोगों का खानापीना और रहनसहन इतना भद्दा हो रहा है कि उनका जीवन निःसत्व हो रहा है। जिन घरों में वे रहते हैं वहाँ इतनी गंदगी रहती है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसा जीवन भी कोई जीवन है? अगर नगरों में विस्तृत स्थान नहीं है तो कम से कम नगर निवासियों को चाहिए कि वे ग्रामीणों के रहन-सहन को उत्तम तो मानें। लेकिन वे उलटे उनकी निंदा करते हैं। नगर में रहने वालों का पालन-पोषण ग्रामीण ही करते हैं। ग्रामीणों के यहाँ से ही नगर में रहने वालों की हवेलियों में अन्न आता है। फिर भी नगर वाले झूठा अभिमान करके ग्रामीणों की निन्दा करते हैं। नगर की हवेलियाँ ग्रामीणों की झोंपड़ियों से ही वनी हैं। हवेली बनाने के लिए झोंपड़ियों वालों ने ही सिर से पैर तक पसीना बहाया है। क्या कोई झोंपड़ी ऐसी भी है जो गरीब झोंपड़ी वालों के परिश्रम के विना ही बन गई हो! झोंपड़ों में हवेली वालों ने काम नहीं

किया लेकिन हवेली में झौंपड़ों वालों ने काम किया है। ऐसा होते हुए भी हवेली वाले, अहंकार करके ग्रामीणों की निन्दा कैसे करते हैं? अहंकार के वश होकर अगर गाय को भी माँ न मानो, उसका बूंद-बूंद दूध लेकर उसे भी कसाई के सिपुर्द कर दो तो वह बेचारी क्या कह सकती है? लेकिन ऐसे कृत्यों से क्या तुम मनुष्य ही बने रहोगे? इसलिए हमारा शरीर पृथ्वी से बना है यह समझ कर पृथ्वी स प्रेम करो। मुसलमान भी कहते हैं कि बाबा आदम का शरीर मिट्टी से बना हुआ था। वह तो बाबा आदम का ही शरीर मिट्टी से बना बतलाते हैं लेकिन हम लोग तो यह शरीर मात्र मिट्टी के बने हुए मानते हैं।

लोक में अन्न, जल, वस्त्र आदि सभी जीवनोपयोगी वस्तुएँ पृथ्वी की सहायता से ही प्राप्त होती हैं। लोकोत्तर में सामायिक पौषध, साधुता, श्रावकपन, आत्मिक सिद्धी, योगसिद्धि आदि पृथ्वी पर ही होती है। आप लोग बराबर हिसाब लगा कर पृथ्वी के उपकार का विचार कीजिए।

> राते रोज विचारो आज कमाया शूं अहीं रे।
> सूता मन महीं रे। राते०॥
> खोवो पीवो प्रभुए दीधूं ते साटे में शूं शूं कीधूं
> ए खातो सरवर कीधो छे के नहीं रे। राते०॥

आपने कभी पिछली रात में यह भी विचार किया है कि हमने इस संसार में क्या किया? कमाई ज्यादा या खर्च ज्यादा

किया ? यह हिसाब आपने शायद ही लगाया हो। अलबत्ता पैसों का हिसाब आपने जरूर किया होगा। लेकिन पैसों का हिसाब करते समय कभी यह भी सोचा है कि हमने वेतन के रूप में प्रजा का इतना पैसा लिया है तो उसके बदले प्रजा का क्या काम किया है ? जिस प्रकार दुकानदार अपने पैसे का हिसाब मिला लेता है उसी प्रकार अपना हिसाब आप भी देखो। इस संसार में जन्म ग्रहण करके इस पृथ्वी का दिया खाया है तो इसके बदले में उसका क्या उपकार किया है ?

उक्त कविता में कहा है कि खाना-पीना भगवान ने दिया है, तो क्या यह कथन ठीक है ? आप कहेंगे यह किसी अजैन की बनाई हुई कविता है। वास्तव में यही बात है। लेकिन उसमें जो बात मुख्य रूप से बतलाई गई है उसकी ओर ही ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि निमित्त को भी कर्त्ता माना जाता है और इस प्रकार व्यवहार किया जाता है। सूर्य भक्त कहता है कि मैंने जो कमाई की है वह सूर्य के ही प्रताप से। यह सूर्य के प्रति उसकी भक्ति का ही द्योतक है। अगर कोई यह कहे की सूर्य ही देता है तो फिर हमें क्यों नहीं देता ? तो यह कथन निमित्त और उपादान को न समझने के कारण है। सूर्य भक्त का यह कथन कि मैंने सूर्य के प्रताप से कमाई की, निमित्त की अपेक्षा से ही माना जा सकता है, क्योंकि अगर सूर्य का प्रकाश न होता तो यह कमाई कैसे कर पाता ! हाँ, सूर्य का प्रकाश होने पर भी मिला है

उद्योग और लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से भी। लेकिन प्रकाश देने वाले का उपकार तो न भूलना चाहिए।

दस बोल की योगवाई (प्राप्ति) धर्म के प्रताप से होती ही है! फिर भी लोग इस बात को भूल जाते हैं।

कवि ने इस कविता में विशेषतः खाने पीने का उल्लेख इसलिए किया है कि यह सृष्टि अन्नमय है। थोड़ी देर भूखे रह कर देखो तो पता चलेगा कि अन्न में क्या शक्ति है? जिन्हें खाने की अधिकता से अजीर्ण हो रहा है वे अन्न की शक्ति एवं महिमा क्या जानें? उन्हें क्या पता अन्न में कैसी बिजली है? जब तपस्या करें तब अन्न और उसके दान का महत्व जान पड़े।

मुसलमानों की हातिमताई पुस्तक में लिखा है कि हातिम बड़ा सखी हुआ है। वह दुष्काल के समय में पेट भरकर अन्न नहीं खाता था। कोई उससे पूछता कि आपके घर में दुष्काल का प्रभाव नहीं है, फिर आप पेट भर कर अन्न क्यों नहीं खाते? तब वह उत्तर देता–अगर हम अपना पेट भर लेंगे तब गरीबों की चिन्ता न होगी। गरीबों की भूख की व्यथा का अनुमान लगाना संभव नहीं रहेगा। तात्पर्य यह है कि अन्न का महत्व तप करने से–भूखे रहने से ही मालूम होता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की महत्ता उसके अभाव में ही भलीभाँति अनुभव की जा सकती है।

आप लोग तप करते हैं लेकिन पारणा करते समय क्या यह भी सोचते हैं कि यह अन्न हमने क्यों त्यागा था? क्रोध, लोभ आदि के कारण अन्न त्यागकर कोई संथारा ही क्यों न करले तो भी भगवान ने उसे विराधक कहा है। आराधक नहीं कहा। इसलिए तपस्या में क्रोधादि के कारण अन्न नहीं त्यागा जाता किन्तु दया के लिए त्यागा जाता है। दया के लिए और साथ ही निर्जरा के हेतु। तप करके पारणे के समय यह विचारना उचित है कि अब मैं अन्न से अपना ही पेट न भरूँ किन्तु दूसरों को भी दान दूँ। अगर सुपात्र-दान का अवसर मिल जाय जब तो कहना ही क्या है। क्योंकि सुपात्र बिना बुलाये तो आते हैं मगर बुलाने पर नहीं आते। दान के प्रति प्रेम हो तो हृदय में यह विचार होगा ही कि कोई सुपात्र आ जाय तो मेरा कल्याण हो जाय, या कोई अन्न के बिना दुखी तो नहीं हो रहा है। जो लोग अतिथिसत्कार के बिना खाते हैं, उनके विषय में कहा गया है—

*तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एवं सः।*
*भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥*

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो केवल इन्द्रियों के लिए ही खाता पीता है वह पाप का खाता है और उसका जीना वृथा है। जिसने दिया है, उसकी संभाल किये बिना खाना चोरी का खाना है।

कई लोग तप करते हैं मगर अज्ञान के कारण क्रोध किया करते हैं। उन्हें यह विचार नहीं होता कि मैंने दया के लिए तप किया है और अब क्रोध करके किसी का आत्मा दुखाउँगा तो दया कहाँ रहेगी ? यहाँ यह कहा जा सकता है कि तप संवर और निर्जरा के लिए कहा गया है, फिर यहाँ दया के लिए क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि संवर और निर्जरा भी वस्तुतः स्वदया ही है। अतएव दया के लिए तपस्या करना असंगत नहीं है।

लोग घर में माल होने पर किवाड़ खुले नहीं रखते। हाँ घर में कुछ न हो तो भले ही रखते हैं। इस प्रकार तप रूपी धन को क्रोध रूपी चोर न चुरा ले जावे, इसके लिए क्षमा और शान्ति रूपी किवाड़ सदा बन्द रक्खो। निन्दा एव क्रोध आदि से तप का महत्त्व घट जाता है। करोड़ों वर्षों का तप भी क्रोध की आग में भस्मीभूत हो जाता है। इसलिए तप को करुणा, दया और क्षमा की पेटी में बंद रक्खो। ऐसा करने पर अभूतपूर्व और अद्भुत आनंद प्राप्त होगा। जैसे वायु के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं होती किन्तु बुझ जाती है इसी प्रकार बिना क्षमा के तप भी नहीं ठहरता।

अब मूल बात पर आइए। पृथ्वी का उपकार सब पर है। क्या जैन और क्या वैष्णव-सभी एक स्वर से यह बात स्वीकार करते हैं। यह पृथ्वी माता है। माता को नंगी करने के लिए अगर कपड़े खींचे जाएँ तो यह देख कर किसका

हृदय दुखी न होगा ? माता के कपड़े उतार कर पुत्र को पहनने के लिए दिये जावें तो कौन पुत्र उन्हें पहनना पसंद करेगा ? इसी प्रकार जिस आर्य देश का खाते-पिते हो उस आर्य देश को अनार्य बनाते जाते हो—उसे दिन-दिन नंगा करते जाते हो, उसकी भी कुछ फिक्र है ? आज आप चाहे इसकी पुकार न सुनें मगर कोई न कोई तो सुनेगा ही।

विलायत से आते हुए अंग्रेज से कोई पगड़ी बांधने के लिए कहे तो वह कदापि पगड़ी नहीं बाँधेगा। वह कहेगा—हम यहाँ अपनी माता का गौरव घटाने नहीं आये हैं—गौरव बढ़ाने आये हैं। लेकिन अनेक हिन्दुस्तानी अपनी मातृभूमी में रहते हुए भी साहब सरीखा टोप लगाते हैं और अंग्रेजी पोशाक पहन कर मातृभूमि का गौरव घटाते हैं।

पृथ्वी का संबंध अर्हन्त से है। इसलिए गौतम स्वामी ने पृथ्वी के विषय में प्रश्न किया है। महापुरुष इस पृथ्वी पर ही जन्मे हैं। इस पृथ्वी पर हम हैं, उस पर बड़े-बड़े अवतार हो गये हैं। यह बात नहीं है कि वे पूर्वपुरुष इस संसार में जन्म लेने से पूर्व किसी एक ही जगह रहते हों और फिर संसार में जन्म धारण करके उच्च गति प्राप्त करते हों। अन्य लोग अपने अवतारों एवं महापुरुषों के विषय में इसी प्रकार की बात कहते हैं लेकिन जैनधर्म ऐसा नहीं कहता। जैनधर्म यह बात नहीं मानता कि कोई भी शुद्ध आत्मा अपने स्थान से आकर इस संसार में जन्म लेता है। अगर शुद्ध बुद्धि से विचार किया जाय

तो ऐसा कथन ठीक भी नहीं जँचता। ऐसा मानने से मुक्ति का भी अभाव हो जाता है। क्योंकि शुद्धात्मा मुक्त ही होते हैं और मुक्त पुरुषों को जन्म-धारण करने से मुक्ति से वंचित होना पड़ेगा। फिर मुक्ति तो संसार की गतियों में से ही एक गति हो जायगी।

*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।*

गीता में कहा है— जहाँ पहुंच कर फिर नहीं लौटते वही मोक्ष कहलाता है। वही उत्कृष्ट स्थान मेरा—आत्मा का है।

अब यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि अर्हन्त कहाँ से आते हैं? इसके उत्तर में जैनधर्म कहता है कि अर्हन्त पृथ्वीकाय से भी उत्पन्न होते हैं। किसी समय अर्हन्त का आत्मा पृथ्वीकाय के जीवों में था लेकिन पृथ्वीकाय की योनि से निकल कर मनुष्य पर्याय धारण करके वे मनुष्य हुए और विशिष्ट साधना द्वारा आत्मिक मलीनता दूर करके, पूर्ण ज्ञान पाकर वे पूर्ण पुरुष हुए। तात्पर्य यह है कि पूर्ण पुरुष पृथ्वीकाय के जीवों में से भी निकल कर आते हैं।

बहुत से शनैः शनैः विकास मानने वाले लोग कहते हैं कि विकास धीरे-धीरे होता है, एकदम नहीं होता। अतएव यह कैसे माना जा सकता है कि पृथ्वीकाय से निकलते ही कोई जीव मनुष्य हो जाता है? आज कल के विज्ञान को दृष्टि में रखने से यह बात ठीक प्रतीत होती है, मगर आत्मा जैसे

सूक्ष्मतम पदार्थ के लिए धीमे-धीमे विकास का यह नियम लागू नहीं हो सकता। यह तो स्थूल पदार्थों से ही संबंध रखने वाला नियम हो सकता है। महापुरुषों ने पृथ्वीकाय में भी जीव देखे हैं। पहले बहुत से लोग वनस्पति में भी जीव मानने में हिचकिचाते थे लेकिन प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोस ने यह सिद्ध कर दिखाया कि वनस्पति में भी जीव है। जगदीशचन्द्र बोस ने विज्ञान की सहायता से वनस्पति में जीव सिद्ध किये हैं लेकिन प्राचीन महापुरुषों ने आधुनिक विज्ञान की सहायता के बिना ही पृथ्वीकाय और वनस्पति आदि में जीव का अस्तित्व प्रकट किया है। उनका यह कार्य ही उनकी पूर्णता का परिचायक है।

जिन महापुरुषों ने पृथ्वीकाय में जीव देखे हैं उन्होंने यह भी देखा है कि जीव पृथ्वीकाय से निकल कर मनुष्य भी होता है और पूर्ण पुरुष भी होता है। ऐसी दशा में हम आज के विज्ञान को मानें या उन महापुरुषों के प्रत्यक्ष, पूर्ण और अभ्रांत ज्ञान को मानें? आज के वैज्ञानिक विज्ञान चाहे जानते हों लेकिन उनका हृदय तो काम-क्रोध-युक्त ही है। इसके अतिरिक्त बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी जड़ प्रकृति के सम्पूर्ण रहस्यों को नहीं जानता। जड़ प्रकृति को जानने में भी अभी उसे न मालूम कितना समय लगेगा। और कौन कह सकता है कि वह कभी पायगा या हमेशा ही उसके लिए जानना शेष रहेगा। जब जड़ प्रकृति की यह बात है तो सूक्ष्मतम आत्मा तो बड़ी दूर की

बात है। यह यंत्रों की पकड़ में नहीं आती, दूरबीन से भी यह दूर ही रहती है। इसलिए लाख प्रयत्न करके भी वैज्ञानिक अपने यंत्रों की सहायता से आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता आत्मा के प्रत्यक्ष के लिए तो यंत्रों को तोड़ फोड़ कर फेंक देना होगा और देह में रहते हुए भी देहातीत दशा प्राप्त करनी होगी तभी आत्मा का उज्ज्वल प्रकाश आविर्भूत होगा और उसी प्रकाश में आत्मा का साक्षात्कार हो सकेगा। इस प्रकार आत्मा साक्षात्कार करने वाला महान् वैज्ञानिक ही हमारा पथ प्रदर्शक हो सकता है।

हमें आत्मोन्नति करनी है। एक मात्र आत्म-विकास ही हमारे जीवन का परम और चरम ध्येय है। काम-क्रोध वालों की बात हमारे उद्देश्य की पूर्त्ति में सहायक नहीं हो सकती। आधुनिक विज्ञान से भोगोपभोग में वृद्धि भले ही हो जाय लेकिन आत्मोन्नति नहीं हो सकती। अतएव सर्वज्ञों की कही बात में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि पृथ्वीकाय से निकल कर जीव मनुष्य होता और पूर्णता प्राप्त करता है।

अपनी पिछली पीढ़ी से स्वाभाविक प्रेम होता है। भाट से अपने पूर्वजों की नामावली और गौरवगाथा सुनकर किसका हृदय हर्ष से नहीं नाचने लगता? यह संसार का नियम है ऐसी अवस्था में जिन पृथ्वीकाय के जीवों में से अर्हन्त निकले हैं, उन पृथ्वीकाय के जीवों पर कितना प्रेम होना चाहिए?

टीकाकार कहते हैं—मैंने अपनी तरफ से तो यह साक्षी दी ही है कि पृथ्वी का और पूर्ण पुरुष का संबंध है, अतएव इस पाँचवें उद्देशक में पृथ्वी का वर्णन किया है लेकिन एक साक्षी शास्त्र की भी है। पहले शतक के आरंभ में जो संग्रह गाथा कही गई है, उसमें यह उल्लेख किया गया है कि पाँचवें उद्देशक में पृथ्वी संबंधी प्रश्नोत्तर किये गये हैं।

श्री गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर फर्माते हैं--पृथ्वी सात कही गई हैं।

यद्यपि पृथिवियाँ आठ भी मानी गई हैं, लेकिन गौतम स्वामी के प्रश्न का जो अभिप्राय है, उसे जानकर भगवान ने सात ही बतलाई है, क्योंकि आगे गौतम स्वामी पृथ्वी सम्बन्धी और आन्तरिक प्रश्न भी पूछेंगे। जिस प्रकार राजा अपने राज्य के घरों की गणना करता है, उसी प्रकार आगे पृथ्वी पर के घरों की गणना भी बतलाई जायगी। छोटे-से राज्य का स्वामी अपने छोटे राज्य के घरों की गणना करता है, परन्तु भगवान समस्त लोक के स्वामी हैं, अतः वे सारे संसार के घरों की गणना करेंगे।

सिद्धशिला की पृथ्वी आठवों है लेकिन भगवान ने उस पृथ्वी की विवक्षा न कर के सात ही पृथ्वियाँ बतलाई हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वी एक ही है और लौकिक भूगोल शास्त्र भी एक ही पृथ्वी बतलाता है, फिर सात

पृथ्वियाँ कैसे कही गई हैं ? मगर लौकिक भूगोल शास्त्र का यह वर्णन अगर सत्य होता तो गौतम स्वामी को भगवान से यह प्रश्न करने की आवश्यकता न होती। प्रचलित भूगोल की बात असत्य होने के कारण ही तो गौतम स्वामी को सर्व-साधारण की भ्रमणा मिटाने के लिए यह प्रश्न पूछना पड़ा है। इसी कारण भगवान ने उत्तर भी दिया है कि पृथ्वियाँ सात हैं। इनमें से एक प्रत्यक्ष है और छह अप्रत्यक्ष हैं।

चौदह राजू लोक का जैन शास्त्र में बहुत वर्णन है। अन्य लोगों ने भी चौदह राजू लोक को भुवन-तबक आदि के नाम से स्वीकार किया है। चौदह राजू लोक को तुलसीदासजी ने चौदह भुवन मानकर कहा है:—

चौदह भुवन एक पति होई।

चौदह राजू लोक के नक्शे में क्रम से सात पृथिवियां बतलाई हैं। उनमें से हम लोग केवल एक पृथ्वी देख सकते हैं, शेष नहीं।

अहमदनगर में एक जैन वकील हैं। अब तो वे जैनधर्म को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं परन्तु जब वे कॉलेज से नये-नये निकले थे, तब जैनधर्म को कुछ समझते ही नहीं थे। जब उन्होंने सूयडांग सूत्र का अध्ययन किया, तब कहने लगे सूयडांग में जैसा उत्कृष्ट उपदेश है वैसा अन्यत्र हो नहीं सकता।

उन वकील ने एक बार मुझ से पूछा—यदि स्वर्ग-नरक न मानें तो क्या हानि है? स्वर्ग-नरक दिखाई नहीं देते, इसी कारण ऐसा प्रश्न करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मैंने उन्हें उत्तर दिया—तो क्या आप यह देख चुके हैं कि स्वर्ग-नरक नहीं हैं? अगर नहीं देखा तो कैसे कह सकते हैं कि स्वर्ग-नरक नहीं है? बिना देखी चीज़ तो आप मानना नहीं चाहते? स्वर्ग-नरक का अस्तित्व प्रकट करने वाले प्रमाण तो हम बतलाते भी हैं, लेकिन उनका अभाव सिद्ध करने के लिए आपके पास क्या प्रमाण हैं? एक बंद कोठरी के विषय में एक आदमी कहता है—इस कोठरी में एक तिजोरी है, जिसमें लाख रुपये का माल है। दूसरा उसी के सम्बन्ध में कहता है—इस कोठरी में कुछ भी नहीं है। अब इस दूसरे आदमी से पूछा गया कि इस कोठरी में कुछ नहीं है, इसके लिए तुम्हारे पास क्या प्रमाण है? तब उसने कहा—अगर कुछ होता तो दिखाई देता। कुछ दिखाई नहीं देता, इस कारण कुछ भी नहीं है। मगर यह कैसे मान लिया जाय कि वास्तव में कोठरी में कुछ नहीं है। कोठरी में भीतर जाकर देखा नहीं, फिर उसे सूनी किस प्रकार कह सकते हैं? जो आदमी उसमें धन बतलाता है उसके पास तो प्रमाण है। उसके बाप-दादा बही में लिख गये हैं कि अमुक कोठरी में इतना धन है लेकिन जो कहता है कि इसमें कुछ नहीं है, उसके पास क्या प्रमाण है? उसका कथन तो सर्वथा निराधार और मनःकल्पित ही है। इसी प्रकार

र्ग-नरक हैं, यह बात तो शास्त्रों में लिखी हुई है लेकिन
वर्ग-नरक नहीं हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई
माण नहीं है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने सात पृथ्वि-
तलाई और कहा—पहली पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा है। दूसरी
र्कराप्रभा, तीसरी वालुकाप्रभा, चौथी पंकप्रभा, पाँचवी
धूमप्रभा, छठी तमःप्रभा और सातवीं तमस्तमः प्रभा है।
पहली पृथ्वी एक राजू लम्बी-चौड़ी और एक राजू गहरी है।
दूसरी पृथ्वी दो राजू गहरी है। इस प्रकार सातवीं पृथ्वी
सात राजू लम्बी-चौड़ी और एक राजू गहरी है। सातों पृथ्वी
एक के ऊपर एक पुड़ की तरह सुधर्म देवलोक और नवग्रैवे-
यक तक चली गई हैं। लोक का नक्शा पुरुषाकार है। उस
पुरुषाकार लोक के नक्शे की गर्दन को ग्रैवेयक कहते हैं।

मैंने अहमदनगर के वकील से पूछा—आप पृथ्वी को गोल
बतलाते हैं लेकिन इसके नीचे क्या है? वकील बोले--कुछ
होगा! तब मैंने कहा--आप तो कुछ होगा ही कहते हैं और
हम कहते हैं--पृथ्वी के नीचे नरक है; तो ऐसा मान लेने में
क्या बाधा है? आपको भूगोल-खगोल से जैन शास्त्र को मिलाने
की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे व्यवहार की पुस्तकें हैं और
यह धर्म शास्त्र हैं।

पहली पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा है। हम लोगों को जो

पृथ्वी दिखाई देती है, वह भी रत्नगर्भा कहलाती है। जिसके गर्भ में रत्न हो, उसे रत्नगर्भा कहते हैं। स्त्री के गर्भ में जब कोई महापुरुष आया होता है तो उसे रत्नकूंखधारिणी कहते हैं। इसी प्रकार इस पृथ्वी में भी ऐसे-ऐसे रत्न हैं कि उनका पार नहीं।

जैन शास्त्रों में रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन हिस्से किये हैं-रत्नकाण्ड, जलकाण्ड और पंककाण्ड। रत्नकाण्ड में नरकावास की जगह छोड़कर दूसरी जगह अनेक रत्न होते हैं; जिनकी प्रभा पड़ती रहती है। इस कारण पहली पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा पड़ा है। इसी प्रकार शेष पृथिवियों के नामों की भी उपपत्ति समझ लेना चाहिए। सातवीं पृथ्वी पर घोर अंधकार है, इस लिए उसका नाम तमस्तमःप्रभा या महातमःप्रभा है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन्! रत्नप्रभा पृथ्वी में कितने लाख नरकावास हैं? अर्थात् नरक-स्थान कितने है?

यहाँ 'इससे' शब्द आया है, जो उंगली निर्देश को सूचित करता है। अर्थात् गौतम स्वामी जिस पृथ्वी पर थे, उसी पृथ्वी को बताकर कहते हैं कि इस पृथ्वी में कितने नरकावास हैं?

प्रश्न होता है--जिस पृथ्वी पर गौतम स्वामी रहते थे, उसी पृथ्वी पर हम भी रहते हैं। फिर यह पृथ्वी क्या नरक

है ? क्या हम नरक पर हैं ?

लोग नरक से डरते हैं, नरक के नाम से घबराते हैं और नरक में रहना सुनकर अपना अपमान अनुभव करते हैं। लेकिन जैन शास्त्र कहते हैं कि यह पृथ्वी, रत्नप्रभा पृथ्वी का ही ऊपरी तल है। नरक भी इसी पृथ्वी में है। इस पृथ्वी के भीतर ही भीतर तह चली गई है, जिनका हिसाब बारह अन्तर और तेरह प्रस्तर के नाम से बहुत अधिक है।

जैसे शरीर में नाभि मध्यभाग में है, इसी प्रकार यह रत्नप्रभा पृथ्वी भी मध्य में है। लेकिन मध्यभाग की सीमा बाँधनी ही पड़ेगी। जैसे नाभि के ऊपर मस्तक और नीचे पाँव होते हैं, उसी प्रकार रत्नप्रभा भूमि का यह भाग नाभि है, इसके ऊपर का भाग स्वर्ग और नीचे का भाग नरक है। शास्त्र कहता है कि यह भाग है तो उसी पृथ्वी का, लेकिन इस भाग (क्षेत्र) की विशेषता यह है कि स्वर्ग भी इसका दास है। स्वर्ग या नरक में यहीं से जाया जाता है। जैसे एक विस्तीर्ण भूभाग जल से परिपूर्ण हो और बीच में सिर्फ एक छोटा-सा टापू हो तो भी वह सारा प्रदेश जलप्रदेश ही कहलाएगा। अर्थात् अधिकता के अनुसार ही प्रायः व्यवहार होता है। यही बात इस पृथ्वी के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। पहले नरक की मोटाई एक लाख, अस्सी हजार योजन है और लम्बाई-चौड़ाई एक राजू है। अन्त में दस योजन का एक हिस्सा बचता है, जिस

पर मनुष्य और तिर्यञ्च बसते हैं। यह हिस्सा भी उसी पृथ्वी का है।

आप कहते होंगे--क्या हम नरक पर बसते हैं? लेकिन साफ-सुथरे रहने पर भी आपका जीवन किस आधार पर टिका हुआ है?

'मल-मूत्र पर!'

उस मल-मूत्र को भी तो नरक ही कहते हैं। अगर मल-मूत्र एक मिनिट के लिए ही सूख जाय तो मनुष्य-जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य का जीवन अतर पर नहीं वरन् मल-मूत्र पर निर्भर करता है। फिर भी अगर कोई यह बात कहता है तो सुनने वालों को बुरा लगता है। मगर इससे सच्चाई कैसे बदल सकती है? सत्य तो सत्य ही है, चाहे किसी को वह पसन्द हो या नहीं। अतएव यह भूमि--रत्नप्रभा नरक के तल पर है, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

गौतम स्वामी ने रत्नप्रभा पृथ्वि के विषय में पूछते हुए 'इमीसे' कहा है, लेकिन अन्य पृथिवियों के सम्बन्ध में प्रश्न करते समय इस शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे। 'इमीसे' कहकर गौतम स्वामी ने मनुष्यों को यह बतलाया है कि गर्व न करो। हम सब नरक पर ही बसे हैं। ज्ञानी जन असली बात नहीं भूलते, इसी कारण गौतम स्वामी ने 'इमीसे' कहा है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया—'हे गौतम ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं ?'

नरकावास के विषय में पूछने के साथ ही और सब जीवों के वास के सम्बन्ध में भी भगवान से गौतम स्वामी ने प्रश्न किये हैं। यह बड़े घर का इतिहास है। कहाँ नरक और जल के जीव और कहाँ जगत् के नाथ भगवान ? फिर भी गौतम स्वामी ने उन सब के विषय में प्रश्न किये और भगवान ने सब प्रश्नों के उत्तर दिये।

अगर कोई राजा अपने राज्य के घरों की गणना करेगा तो केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सवर्णों के घर ही गिनेगा या सभी प्रजा के घर गिनेगा ? अगर वह भंगी के घरों को गिनना छोड़ देता है तो उसके राजतंत्र में त्रुटि आजायगी। ऊंच नीच का भेदभाव लोगों में भले रहे, मगर जब गणना होगी तब सभी की गणना होगी। हाँ, भेद विचार तो सभी जगह रहेगा लेकिन अभेद विचार से सब की गणना हो जाती है और सब जीवों की गणना करके भगवान ने सबके साथ प्रीति जोड़ी है।

यह विचारणीय बात है कि गणधर भगवान ने इन सब जीवों का हिसाब क्यों लगाया है ? नरक के जीवों के रहने के स्थान कितने ही हों, उन्हें इनसे क्या प्रयोजन था ? लेकिन जो बात की बारीकी को समझता है, वह सब लोगों को अपने

हाथ में कर लेता है। वह सब से प्रेम रखता है। इसी प्रकार ज्ञानियों ने सब जीवों को अपने हाथ में कर रक्खा है। उन्होंने यह हिसाब लगाकर स्वर्ग के जीवों को नरक के जीवों से प्रेम करवाया है। इसलिए ऊपरी भेदभाव को भूलकर आत्मतत्व का विचार करना चाहिए।

रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे पहली नरक भूमि है। उसमें नरक वासों की संख्या तीस लाख है। समस्त पृथिवियों में कितने-कितने नरकवास हैं, यह बताने के लिए एक संग्रहगाथा दी गई है। उसका अर्थ यह है कि पहली पृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवी में तीन लाख, छठीं में पांच कम एक लाख और सातवीं में केवल पांच अनुत्तर नरकावास हैं।

पहली रत्नप्रभा पृथ्वी में जो तीस लाख नारकावास हैं, उनमें से कई असंख्यात योजन लम्बे-चौड़े और कई संख्यात योजन लम्बे-चौड़े हैं। संख्यात योजन लम्बे-चौड़े नरकावासों में संख्यात जीव रहते हैं और असंख्यात योजन लम्बे-चौड़े नारकावासों में असंख्यात जीव रहते हैं।

प्राणियों के चार विभाग हैं—( १ ) नरक योनि के प्राणी ( २ ) तिर्यञ्च योनि के प्राणी (३) मनुष्य योनि के प्राणी और देवयोनि के प्राणी। पाँचवां भेद सिद्धों का भी है लेकिन उनकी

गणना संसारी प्राणियों में नहीं है और यह चार भेद संसारी जीवों के हैं।

सातों भूमियों के नरकावास मिल कर सब चौरासी लाख होते हैं। जीवयोनी भी चौरासी लाख हैं और नरकावास भी चौरासी लाख हैं।

पहली पृथ्वी में प्रस्तर और अन्तर कहे गये हैं। पोलार को अन्तर कहते हैं और ऊपर की मंजील को प्रस्तर कहते हैं। इस भूमि में बारह अन्तर हैं और तेरह प्रस्त : हैं। इनमें से दस अन्तरों में दस प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं। भवन-वासी देवों के रहने को दिशा दक्षीण और उत्तर है। दक्षिण दिशा में रहने वाले भवनवासी असुर कुमारों के चौंतीस लाख भवन हैं और उत्तर दिशा में रहने वालों के तीस लाख भवन हैं। इसी प्रकार नाग कुमार आदि के आवास हैं। सब मिला कर सात करोड़ बहत्तर लाख भवन भवनपतियों के हैं। दण्डक की गणना से पृथ्वीकायादि जीवों का हिसाब भी आता है। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय वायुकाय और वनस्पति काय, यह पाँच स्थावर जीव हैं। इनके भी असंख्य-असंख्य स्थान हैं। इनके पश्चात् दो इन्द्रिय वाले त्रस जीव हैं। ऐसे जीवों की दो लाख जातियाँ हैं और इनके रहने के भी असंख्य स्थान हैं। जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण— यह तीन इन्द्रियाँ हैं, ऐसे त्रीन्द्रिय

जीवों के भी असंख्य स्थान हैं। जिन जीवों को, कान को छोड़ कर चार इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, ऐसे चार इन्द्रिय वाले जीवों के भी असंख्य स्थान हैं।

जिन जीवों के कान, आँख, नाक, जीभ और स्पर्शनेन्द्रियाँ हैं, उन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों के दो भेद हैं:—मनुष्य और तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय। तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के कई भेद हैं। कोई हाथों और पैरों के सहारे चलता है, कोई सिर्फ हाथों के अथवा पैरों के ही सहारे चलता है, कोई आकाश में चलता है, इत्यादि अनेक भेद हैं। इनके भी असंख्य-असंख्य स्थान हैं।

मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव के दो भेद हैं:—गर्भज और संमूर्छिम। जो जीव गर्भ से उत्पन्न होते हैं, वे गर्भज कहलाते हैं और मल, मूत्रादि से उत्पन्न होने वाले संमूर्छिम् कहलाते हैं। मल मूत्रादि से उत्पन्न होने वाले भी कोई-कोई जीव मनुष्य कहलाते हैं। उनका शरीर अंगुल के असंख्यात भाग के बराबर होता है। इस कारण यद्यपि वे दिखते नहीं हैं, तथापि वह भी मनुष्य ही कहलाते हैं।

बहुत से लोग घरों में टट्टी जाते हैं और टट्टी सड़ती रहती है और उसमें जीव उत्पन्न होते रहते हैं। जब जीव उत्पन्न हो जाते हैं तब उन पर दया करने की बात सोचते हैं। लेकिन जीव जब उत्पन्न हो जाएंगे, तब उन पर क्या दया

की जायगी ? बेहतर तो यह है कि वहाँ जीव उत्पन्न ही न होने दिये जाएं। घर में टट्टी जाने से और टट्टी सड़ती रहने से क्या-क्या हानियाँ होती हैं, इस बात को जब तक भली भांति न समझ लिया जाय तब तक अहिंसा और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा नहीं हो सकती।

संमूर्छिम मनुष्यों के भी असंख्य स्थान हैं और गर्भज मनुष्यों के भी असंख्य स्थान हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई ( जाड़ाई ) की पोलार में वाण-व्यन्तर देवों के असंख्य निवास स्थान हैं।

आगे ऊपर चन्द्र-सूर्य ग्रह हैं। चन्द्र-सूर्य यहाँ से तो एक-एक ही दीखते हैं लेकिन तिर्यक् लोक में असंख्य द्वीप हैं और एक-एक द्वीप में अनेकानेक सूर्य हैं।

ज्योतिष-चक्र के ऊपर सौधर्म नामक पहला देवलोक है। वहाँ बत्तीस लाख विमान हैं। दूसरा ऐशान नामक देवलोक है, उसमें अट्ठाईस लाख विमान हैं। इसी प्रकार तीसरे सनत्कुमार देवलोक में बारह लाख, चौथे माहेन्द्र देवलोक में आठ लाख, पाँचवें ब्रह्मलोक में चार लाख, छठे लान्तक में पचास हजार, सातवें शुक्र में चालीस लाख, आठवें सहस्त्रसार में छह हजार, नौवें आनत में और दसवें प्राणत में चार सौ, ग्यारहवें आरण और बारहवें अच्युत देवलोक में तीन सौ विमान हैं। इनके ऊपर नौ ग्रैवेयक विमान हैं। उनके तीन हिस्से हैं। पहले

पहले हिस्से में एकसौ ग्यारह, दूसरे में एकसौ सात और तीसरे में एक सौ विमान हैं। इन तीनों हिस्सों के नाम क्रमशः अधस्तन, मध्यम और उपरितन हैं। इनके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी लाख, सत्तानवें हजार, तेईस विमान हैं।

भगवान ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में संसार के जीवों के रहने के स्थान कितने हैं, यह बतलाया है। जब राज्य के घरों की गणना होती है तो उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ— इस प्रकार सभी घरों की गणना की जाती है। एक बड़ा महल, जिसमें बहुत से व्यक्ति रहते हैं, वह भी एक ही घर माना जाता है और जिसमें एक ही मनुष्य रहता है, ऐसा छोटा झोंपड़ा भी एक ही माना जाता है। यह बात तो सभी आज के वैज्ञानिक एवं प्राच्यविद्या के जानने वाले मानेंगे कि यह शास्त्र आज के विज्ञान से नहीं लिखे गये हैं। ज्ञानियों के ज्ञान से लिखे गये शास्त्रों में भी, जैसा कि राजा द्वारा कराई जाने वाली गणना में महल और झोंपड़ा एक ही माना जाता है, उसी तरह असंख्य योजन का विमान भी एक ही माना जाता है और पृथ्वीकाय के जीवों के रहने का छोटा-सा स्थान भी एक ही माना गया है। कीड़े-मकोड़े आदि सब के स्थानों की गणना इसमें आ गई है और यह हिसाब बतलाया गया है कि त्रिलोक के प्राणियों के रहने के स्थान कितने हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि इन कीड़ों-मकोड़ों आदि के स्थान जानने से क्या लाभ है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह बात किसी राजा से जाकर पूछो कि तुम अपने राज्य के घरों की गणना क्यों कराते हो ? अगर दस-पच्चीस झोंपड़े अधिक हुए तो क्या और कम हुए तो क्या ? इसके उत्तर में राजा यही कहेगा कि राज्य के घरों की गणना कराने के लाभ राजनीतिज्ञ ही जान सकते हैं। इसी प्रकार त्रिलोकी के घरों की गणना में भी बहुत तत्व भरा है। इसमें क्या तत्व है, यह बात ज्ञानी ही जानते हैं।

केवल पुस्तकें पढ़ लेना ही ज्ञान नहीं है। अध्यात्म शास्त्र के अनुसार ज्ञान क्या है, यह बात समझने योग्य है। गीता में भी ज्ञान की परिभाषा कुछ और ही बतलाई है। पढ़ना या न पढ़ना ज्ञान या अज्ञान नहीं है। गीता में कहा है:—

> अमानित्व मदम्भित्वमहिंसाक्षान्ति रार्जवम् ।
> आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
> इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
> जन्ममृत्यु जराव्याधि दुःख दोषानुदर्शनम् ॥
> असक्तिरनभिष्वङ्ग पुत्रदार गृहादिषु ।
> नित्यञ्च समचित्तत्त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
> मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
> विविक्त देशसेवित्व मरतिर्जनसंसदि ॥
> अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
> तज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥
>
> —गीता अध्याय, १३

आशय यह है कि जिसके प्राप्त होने पर अभिमान गल जाय वह ज्ञान है और जिसके प्राप्त होने से अभिमान में वृद्धि हो वह अज्ञान है। जिसके सेवन से रोग निवृत्त हो जाय वह औषध है और जिसके सेवन से रोग बढ़े, वह दवाई नहीं—कुपथ्य है। इसी प्रकार ज्ञान की कसौटी अभिमान का क्षीण होना है। चाहे पोथी पढ़ी हो या न पढ़ी हो, लेकिन जिसमें अभिमान नहीं है वह ज्ञानी है और पढ़ने पर भी जिस पर अभिमान का भूत सवार है वह अज्ञानी है। इसी प्रकार दंभ का त्याग, अहिंसा, क्षमा, आर्जव ( सरलता ) आचार्य की उपासना, पवित्रता, स्थिरता, आत्मनिग्रह, इन्द्रियों के भोगोपभोग के प्रति विरक्ति, अहं-मत्व न रहना, जन्म-मरण व जरा रूप रोगों को दुःखरूप समझना और उनके दोषों को देखना, आसक्ति न होना, पुत्र कलत्र-गृह आदि में गृद्धि न होना, इष्ट और अनिष्ट विषयों में सदैव समभाव होना, ईश्वर में अनन्यभाव से अव्यभिचारिणी भक्ति होना, एकान्त में वास करना, जनता के संसर्ग में अरुचि होना, नित्य अध्यात्मज्ञान होना, तत्वज्ञान प्राप्त करना, यह सब ज्ञान के लक्षण हैं। इस से विपरीत लक्षण होना अज्ञान है।

ऊंचे चढ़ने पर बड़ी चीज़ भी छोटी दिखने लगती है। यद्यपि वह वस्तु इतनी छोटी नहीं है—पहिले की अपेक्षा तो वह तनिक भी छोटी नहीं हुई है लेकिन ऊपर चढ़ा होने के कारण दृष्टि में विकार आ जाता है और बड़ी चीज़ भी छोटी

दिखाई देती है। कई लोग कहते हैं, हम प्रत्यक्ष देखे विना कोई बात नहीं मानते लेकिन प्रत्यक्ष देखी जाने वाली बात के विपरीत भी मानना पड़ता है। ऊपर चढ़ा हुआ आदमी प्रत्यक्ष से देखकर जिस चीज को छोटी बतलाता है, उसी के विषय में, उसी का हृदय कहता है—वास्तव में वह छोटी नहीं है, वह तो ज्यों की त्यों बड़ी है। लेकिन ऊपर चढ़ने के कारण दृष्टि में विकार आ गया है। इसी कारण बड़ी वस्तु छोटी नज़र आती है। भला सोचिए, ऐसे समय में प्रत्यक्ष की बात मानना उचित है या बुद्धि की? क्या इस समय बुद्धि को ठगना उचित होगा? यही बात एक उदाहरण से स्पष्ट की जाती है।

एक ज्ञानी पुरुष किसी पर्वत पर बैठे थे। प्राचीन काल में जब कागज़ का चलन नहीं था, तो जो कुछ भी लिखा जाता था, ताड़पत्र पर ही लिखा जाता था। उन ज्ञानी पुरुष ने लिखा—'घोड़ा कुत्ते के बराबर है। एक दिन आंधी आई वह पत्ता उड़कर पहाड़ से नीचे के एक ग्राम में किसी आदमी को मिला उसने उस पत्ते को पढ़ा और सोचा—'ऐसा लिखने वाला कितना मूर्ख है।' फिर एक बुद्धिमान ने भी उस पत्ते पर लिखे ज्ञानी के वाक्य को देखा। वह बुद्धिमान पुरुष केवल शब्दों का ही अर्थ करने वाला नहीं था। वह मस्तिष्क से विचार करने वाला था। उसने सोचा—अवश्य ही इस वाक्य के लिखने में कुछ रहस्य होना चाहिए। उसने सब से कहा—

इस पत्ते पर यह बात किसने लिखी है, इसका पता लगाना चाहिए। आखिरकार अनुमान किया गया कि आँधी में उड़ कर यह पत्ता पहाड़ से आया है तो उस पर रहने वाले ज्ञानी पुरुष ने यह वाक्य लिखा होगा। वह बुद्धिमान पुरुष पत्ता लेकर ज्ञानी के पास गया और उनसे पूछा—क्या आपने ही इस पत्ते पर यह वाक्य लिखा है? ज्ञानी ने कहा—हाँ मैंने ही यह लिखा है।

बुद्धिमान ने पूछा—क्या इस पत्ते पर लिखा वाक्य सही है?

ज्ञानी ने कहा—यह आँख से तो सही है, मगर बुद्धि से सही नहीं है। जो कुछ अनुभव हुआ, वह लिखा है और वह स्थान के साथ सही भी है। यहाँ से तुम किसी घोड़े को देखो तो मालूम होगा कि घोड़ा, कुत्ता-सा दिखाई देता है या नहीं?

इतने में ही पहाड़ के नीचे एक घोड़ा दिखलाई पड़ा। ज्ञानी पुरुष ने घोड़ा बतलाते हुए उन लोगों से पूछा—वह घोड़ा आपको कैसा नज़र आ रहा है?

लोगों ने कहा—जी हाँ, वह तो कुत्ता सा दीख पड़ रहा है।

ज्ञानी ने पूछा—क्या वह वास्तव में कुत्ता है?

सब बोले—नहीं, कुत्ता तो नहीं है।

ज्ञानी ने कहा—तो मेरी बात आँख और स्थान से सही है। हाँ, वह बुद्धि से अवश्य गलत है।

मतलब यह है कि आत्मविचार की सचाई को प्रत्यक्ष के अभाव में झूठ ठहराना और आँखों देखी बात को ही सत्य मानना ठीक नहीं है। ऐसा करना भाव हिंसा है। सच्चे विचारों का नाश करना आत्महिंसा है।

शास्त्र कहते हैं, अभिमान का नाश होना ज्ञान का लक्षण है लेकिन गड़बड़ यह हो रही है कि अनेक लोग आज अभिमान को ही ज्ञान मान बैठे हैं। लोग अपनी आँखों को सर्वदर्शी और अपने मस्तिष्क को ही सर्वज्ञ समझ रहे हैं। यह स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानी तभी बनता है, जब वह अभिमान का नाश कर दे। अभिमान का नाश किस प्रकार हो सकता है, यह जानने के लिए पर्वत पर रहने वाले उस ज्ञानी की ओर दृष्टि दौड़ाओ। जैसे पर्वत पर चढ़ने पर नीचे की वस्तु छोटी दिखाई दे और उस समय यह समझना चाहिए कि वस्तु छोटी नहीं है—यह तो मेरा भ्रम है। वस्तु तो वास्तव में बड़ी ही है। इसी प्रकार अहंमन्यता के पहाड़ पर चढ़कर सब को छोटा मानना अभिमान है और यह विचार करना कि यह मेरा भ्रम है, मैं बड़ा नहीं हूं, अभिमान का नाश करना है। ज्ञानी जनों का कथन है कि हम छोटे-बड़े का भेद समझ कर अभिमान मिटाने के लिए ही सब जीवों का ठीक-ठीक हिसाब कर रहे हैं।

कदाचित् पहाड़ पर चढ़ा हुआ आदमी अभिमान का मारा नीचे के लोगों को छोटा भी समझे लेकिन नीचे वालों को पहाड़ पर चढ़ा हुआ व्यक्ति छोटा दिखाई देगा या बड़ा ?

'छोटा !'

अब कौन बड़ा और कौन छोटा रहा ? जो दूसरों को अपने से छोटा देखता है, उसे दूसरे लोग अपने से भी छोटा समझते हैं। अभिमानी पुरुष के लिए यह पुरस्कार संभवतः समुचित ही है। मगर ज्ञानी पुरुष कहते हैं--स्थान आदि को छोड़कर देखो तो मालूम होगा कि वास्तव में कौन बड़ा और कौन छोटा है ? जिसके हृदय से अभिमान गया, वही सम्यग्-दृष्टि बन जाता है। ज्ञान होने पर भी अगर कोई सम्यग्दृष्टि नहीं है तो समझना चाहिए कि उसका ज्ञान, अज्ञान--मिथ्याज्ञान है। सच्चे ज्ञान के होने पर अभिमान उसी प्रकार गल जाता है, जैसे सूर्य के उदय होने पर तम विलीन हो जाता है।

इस संसार में किन-किन प्राणियों के निवासस्थान हैं, यह बात ऊपर बतलाई गई है। रत्नप्रभा पृथ्वी पर ८४ लाख नरकावास हैं। उनमें असंख्य नारकी जीव रहते हैं। एक घर में अनेक मनुष्य होने पर भी घर एक ही गिना जाता है, उसी प्रकार एक-एक आवास में असंख्य असंख्य नारकियों का वास होने पर भी आवास एक ही गिना जाता है।

अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि चौरासी लाख जीवयोनियों में जैसा ऊंच-नीच का अन्तर है, वैसा इन नारकी जीवों में है या नहीं ? इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी जो जो प्रश्न करेंगे, वह दस बातों से सम्बन्ध रक्खेंगे। वह दस बातें एक संग्रहगाथा में बतलाई गई है। मूल पाठ इस प्रकार है:--

### मूलपाठ—

पुढवि ट्ठिति-ओगाहण-सरीर संघयणमेव संठाणे ।
लेस्सा-दिट्ठी-णाणे जोगुव-ओगे य दस ट्ठाणा ॥

संस्कृत—छाया

पृथ्वीषु स्थिति-अवगाहना-शरीर-सहननमेव संस्थानम् ।
लेश्या-दृष्टि- ज्ञानं योगोपयोगौ च दश स्थानानि ॥

### शब्दार्थ—

पृथिवियों में स्थिति अवगाहना, शरीर, संहनन, संस्थान लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग और उपयोग इन दस बातों का विचार करना है ।

### व्याख्यान

आगे चल कर सर्व प्रथम स्थिति ( आयु ) का विचार करना है फिर अवगाहना का वर्णन करेंगे । अवगाहना का सम्बन्ध शरीर से है, अतः इसके बाद शरीर का वर्णन किया जायगा । फिर शरीर से सम्बन्ध रखने वाले संहनन एवं संस्थान का विचार होगा । संस्थान का अर्थ आकार है । यह आकार भेद लेश्या से होता है, इसलिए फिर लेश्या पर विचार किया जायगा । लेश्या होने पर भी आत्मा का उपयोग अलग रह जाता है और कोई प्रकृति पर विजय पाता है, दृष्टि भेद

भी होता है, इस कारण लेश्या के अनन्तर दृष्टि अर्थात् सम्यग् दृष्टि-मिथ्या-दृष्टि का विचार किया जायगा। दृष्टि, ज्ञान से होती है अतएव तत्पश्चात् ज्ञान का वर्णन करेंगे। ज्ञान मन-वचन-काय के योग से वर्तता है, इस कारण फिर योग का वर्णन होगा और फिर ज्ञान, दर्शन और चारित्र के उपयोग का वर्णन होगा।

जैसे लोक में पहले घर गिने जाते हैं, फिर घरों में रहने वाले लोगों को अपने, धर्म, उम्र, पेशा, नाम आदि लिखा जाता है--पूछा जाता है, उसी प्रकार धर्म शास्त्र में भी पहले जीवों के स्थान के विषय में प्रश्नोत्तर किये गये और अब तत् सम्बन्धी विशेष बातों का विचार किया जायगा। अर्थात् उल्लिखित दस बातों की तहकीकात की जायगी।
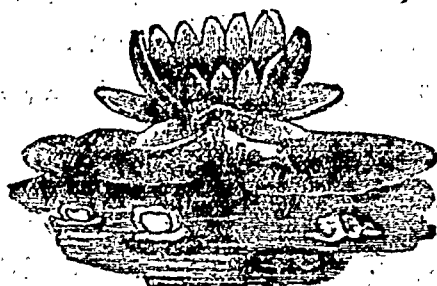
# स्थितिस्थान
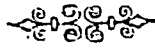
मूलपाठ—

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावास-सयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ठितिट्ठाणा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! असंखेज्जा ठितिट्ठाणा पण्णत्ता, तंजहा-जहण्णिया ठितीसमयाहिया, जहण्णिया ठिती दुसमयाहिया, जाव-असंखेज्जसमयाहिया जहण्णिया ठिती। तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिती।

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावा-

संसि जहरिणयाए ठितीए वट्टमाणा णेरइश्रा किं कोहोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता?

उत्तर—गोयमा! सव्वे वि ताव होज्जा कोहो-वउत्ता य। श्रहवा कोहोवउत्ताय माणोवउत्तेय। श्रहवा कोहोवउत्ताय, माणोवउत्ताय। श्रहवा कोहो-वउत्ता य मायावउत्तेय। श्रहवा कोहोवउत्ता य, मायोवउत्ताय। श्रहवा कोहोवउत्ताय, लोहोवउत्ते य। श्रहवा कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ता य। श्रहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ते य, मायो-वउत्ते य। कोहोवउत्ताय, माणोवउत्ते य, मायोव-उत्ता य। कोहोवउत्ताय, माणोवउत्ता य, मायोव-उत्ता य। एवं कोह-माण-लोभेणवि चउ। एवं कोह-माया-लोभे चउ। एवं १२। पच्छा माणेणं, मायाए, लोभेण य कोहो भयियव्वो। ते कोहं श्रमुंचता। एवं सत्तावीसा भंगा णेयव्वा।

प्रश्न—इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि

समयाहियाए जहन्नट्ठितीए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता लोभोवउत्ता?

उत्तर—गोयमा! कोहोवउत्तेय, माणोवउत्ते य, मायोउत्ते य, लोभोवउत्ते य। कोहोवउत्ता य, माणोवत्ता य, मायोउत्ता य, लोभोवउत्ता य। अहवा कोहोवउत्ते य, माणोवउत्ते य। अहवा कोहोवउत्ते य, माणोवउत्ता य। एवं असीतिभंगा नेयव्वा। एवं जाव—संखेज्ज समयहिया ठिती असंखेज्ज समयाहिया ठिई, तप्पाउग्गुक्कसिआए ठिईए सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा।

*संस्कृत—छाया*

*प्रश्न— एतस्या भगवन्! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्त्रिंशति निरयावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे नैरयिकाणां कियन्ति स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि?*

*उत्तर—गौतम! असंख्येयानिस्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा:-जघन्या स्थितिः समयाधिका, जघन्यास्थितिर्द्विसमयाधिका, यावत्-असंख्येयसमयाधिका जघन्या स्थितिः, तत्प्रायोग्योत्कर्षिका स्थितिः।*

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्त्रिंशति निरयावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् निरवायासे जघन्यया स्थित्या वर्त्तमाना नैरयिकाः किं क्रोधापयुक्ताः, मानोपयुक्ताः, मायोपयुक्ताः लोभोपयुक्ताः ?

उत्तर—गौतम ! सर्वेऽपि तावद् भवेयुः क्रोधोपयुक्ताश्च । अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च । अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च । अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च मायोपयुक्ताश्च । अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च । अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च । अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च लोभोपयुक्ताश्च । अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च । क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च । क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च । क्रोधापयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च । एवं क्रोध-मान-लोभेनापि चत्वारः । एवं क्रोध-माया-लोभेन चत्वारः । एवं पश्चाद् मानेन, मायया, लोभेन च क्रोधो भक्तव्यः । ते क्रोधम् अमुञ्चन्तः । एवं सप्तविंशतिभंगा ज्ञातव्याः ।

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्त्रिंशति निरयावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे समयाधिकया जघन्य-

स्थित्या वर्त्तमाना नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः, मानोपयुक्ताः, मायोपयुक्ताः, लोभोपयुक्ताः ?

उत्तर—गौतम ! क्रोधोपयुक्तश्च, मानोपयुक्तश्च, मायोपयुक्तश्च, लोभोपयुक्तश्च । क्रोधोपयुक्तश्च, मानोपयुक्तश्च, मायोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च । अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च । अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च । एवं अशीतिर्भङ्गा ज्ञातव्याः । एवं यावत् संख्येयसमयाधिका स्थितिः, असंख्येयसमयाधिका स्थितिः, तत्प्रायोग्योत्कर्षिक्या स्थित्या सप्तविंशतिभङ्गा भणितव्याः ।

## शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में के एक-एक नारकावास में रहने वाले नारक जीवों के कितने स्थितिस्थान कहे हैं ? अर्थात् एक एक नारकावास के नारकियों की कितनी-कितनी उम्र है ?

उत्तर—गौतम ! उनके असंख्य स्थितिस्थान कहे हैं । वह इस प्रकार हैं–जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है, वह एक समय अधिक, दो समय अधिक–इस प्रकार यावत्–जघन्य स्थिति असंख्यात समय अधिक तथा उसके

योग्य उत्कृष्ट स्थिति भी। (यह सब मिलकर असंख्यात स्थितिस्थान होते हैं)

प्रश्न—भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में के एक-एक नारकावास में कम से कम (जघन्य) स्थिति में वर्त्तमान नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं? मानोपयुक्त हैं? मायोपयुक्त हैं? या लोभोपयुक्त हैं?

उत्तर—गौतम! वे सभी क्रोधोपयुक्त होते हैं। अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और एक मानोपयुक्त है, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और मानोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और मायोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और मायोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और एक लोभोपयुक्त होता है, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त और लोभोपयुक्त होते हैं। अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त एक मायोपयुक्त और बहुत मायोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त तथा बहुत मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त तथा मायोपयुक्त होते हैं। इस प्रकार क्रोध, मान और लोभ के साथ दूसरे चार भंग करने चाहिए। और इसी प्रकार क्रोध, माया और

लोभ के साथ भी चार भंग करने चाहिए। फिर मान, माया और लोभ के साथ क्रोध द्वारा भंग करने चाहिए। तथा इन सब को, क्रोध को छोड़े बिना इस प्रकार सत्ताईस भंग जानने चाहिए।

प्रश्न—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में के एक-एक नारकावास में एक समय अधिक जघन्य स्थिति में वर्तमान नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं? मानोपयुक्त हैं? मायोपयुक्त हैं? या लोभोपयुक्त हैं?

उत्तर—गौतम! उनमें कोई-कोई क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त और लोभोपयुक्त हैं। अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त और लोभोपयुक्त है। अथवा कोई-कोई क्रोधोपयुक्त और मानोपयुक्त, अथवा कोई-कोई क्रोधोपयुक्त और बहुत-से मानोपयुक्त हैं। इत्यादि प्रकार से अस्सी भंग समझने चाहिए। और इसी प्रकार यावत्—संख्येयसमयाधिक स्थिति वाले नारकों के लिए भी जानना। असंख्येयसमयाधिक स्थिति के उचित उत्कृष्ट स्थिति में सत्ताईस भंग कहना चाहिए।

## व्याख्यान

पूर्वोक्त दस बातों में से पहले उम्र का विचार किया गया है। उम्र का विचार हुए बिना आयुकर्म की स्थिति की मर्यादा का पता नहीं लग सकता। अतएव गौतम स्वामी भगवान

महावीर से पूछते हैं--भगवान् ! पहली रत्नप्रभा नामक पृथ्वी में जो तीस लाख नारकावास हैं, उनमें रहने वाले जीवों की स्थिति ( उम्र ) बराबर है या स्थान-विभाग ( क्रम-बद्ध ) है ? अर्थात् एक नारकावास में रहने वाले जीवों की कितनी-कितनी स्थिति है ?

गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान फर्माते हैं--हे गौतम ! नरक में रहने वाले जीवों की स्थिति के स्थान भिन्न-भिन्न हैं। किसी की जघन्य स्थिति है, किसी की मध्यम और किसी की उत्कृष्ट स्थिति है। इस पहली पृथ्वी के पहले प्रस्तर में रहने वाले नारक जीवों की आयु कम से कम दस हजार वर्ष की है और अधिक से अधिक नव्वे ( ९० ) हजार वर्ष की है। कम से कम आयु जघन्य कहलाती है और अधिक से अधिक आयु उत्कृष्ट आयु कहलाती है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की आयु को मध्यम-आयु कहते हैं। मध्यम-आयु जघन्य या उत्कृष्ट के समान एक प्रकार की नहीं है। जघन्य आयु से एक समय अधिक की आयु भी मध्यम कहलाती है, दो समय अधिक की भी मध्यम कहलाती है, इसी प्रकार संख्यात और असंख्यात समय अधिक की मध्यम-आयु ही कहलाती है। इस तरह मध्यम आयु के अनेक विकल्प हैं। अतः कोई नारकी दस हजार वर्ष की आयु वाला, कोई एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु वाला, कोई एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु वाला, कोई दो समय अधिक

दस हजार वर्ष की आयु वाला, इसी प्रकार कोई असंख्यात समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु वाला है, कोई उत्कृष्ट आयु वाला है। इसलिए नारकी जीवों के स्थितिस्थान असंख्य हैं।

श्रेष्ठ आचार की दृष्टि से तो प्रायः सब धर्मों का विचार समान होता है, लेकिन दार्शनिक सिद्धान्त की दृष्टि से जिसे जो धर्म युक्तिसंगत प्रतीत होता है, वही माना जाता है। उदाहरणार्थ--सत्य बोलने के विषय में सामान्य रूप से सभी धर्म एक हैं। असत्य बोलने का कोई धर्म समर्थन नहीं करता। यह एक स्थूल बात है। लेकिन सत्य कितने प्रकार का है, और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है और किस-किस प्रकार की वाणी असत्य होती है इत्यादि सूक्ष्म विचार में बहुधा भेद भी पाया जाता है। असत्य भाषण नहीं करना चाहिए, यह बात नास्तिक भी कहता है लेकिन असत्य भाषण क्यों नहीं करना चाहिए, यह बात अगर नास्तिक से पूछी जाय तो वह कहेगा--सत्य बोलना श्रेष्ठ आचार है। झूठ बोलने से जीवन-क्रम नहीं चल सकता, समाज में शंका एवं अविश्वास का वातावरण फैलता है, अतः झूठ नहीं बोलना चाहिए। ऐसे समय में दार्शनिक सिद्धान्त बतलाकर यह सिद्ध करने की आवश्यकता है कि सिर्फ लोकाचार के लिए ही सत्य-भाषण नहीं किया जाता, किन्तु सत्य आत्मा का प्रसिद्ध बल है--आत्मा की प्रचंड एवं अजेय शक्ति है, इसलिए भी सत्य बोलने

की आवश्यकता है। इसी के अनुसार गौतम स्वामी का यह प्रश्न है कि नरक के जीवों की जघन्य स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कितने स्थान-विभाग-हैं? भगवान ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है—गौतम! असंख्यात स्थान हैं।

यहाँ प्रश्न खड़ा हो सकता है कि दस हजार वर्ष की स्थिति के भेद गिनने में असंख्यात किस प्रकार हो गये? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि काल-गणना के लिए विभिन्न देशों में तरह-तरह के विभागों की कल्पना की गई है। यूरोप-निवासियों ने समय के विभाग को समझने के लिए घण्टे, मिनट और सैकिंड की कल्पना की है। सैकिंड तक पहुँचकर उनकी गति रुक गई। भारतीय ज्योतिषियों ने घड़ी, पल और विपल में समय का विभाग किया। शायद इससे अधिक सूक्ष्म काल-गणना की लोक-व्यवहार में आवश्यकता नहीं समझी गई होगी, अन्यथा सैकिंड के भी विभाग क्यों नहीं किये जा सकते? मगर ज्ञानियों ने सूक्ष्म तत्व का निरूपण करने के उद्देश्य से काल के सूक्ष्मतम अंश का भी निरूपण किया है। काल का यह सूक्ष्मतम अंश, जो निरंश है, जिसका दूसरा अंश संभव नहीं है, 'समय' कहलाता है। यों तो 'समय' शब्द का सामान्य लोकप्रचलित अर्थ काल ( टाईम ) है, मगर यहाँ यह सामान्य अर्थ नहीं लिया गया है, वरन् पूर्वोक्त विशेष अर्थ ही लिया गया है। एक सूक्ष्मतम समय में ही अनेक काम हो जाते हैं। एक समय मात्र में अनन्त गुणहीन जीव अनन्त-गुण अधिक

हो जाता है और अनन्तगुण अधिक जीव, अनन्त गुणहीन हो जाता है। एक समय में पुद्गल का एक परमाणु चौदह राजू लोक की यात्रा करके सिद्धशिला तक जा पहुँचता है।

भारत से विलायत जो तार जाता है, वह कुछ ही सैकिंड में चला जाता है। लेकिन वह झट से एक खंभे पर से होकर दूसरे खंभे पर और इसी प्रकार आगे चलता है। इस प्रकार जितने खंभों पर होकर तार जाता है, सैकिंड और मिनट के उतने ही विभाग हो जाते हैं। इसी प्रकार दस हजार वर्ष की स्थिति से नव्वे हजार वर्ष की स्थिति तक असंख्य विभाग-स्थितिस्थान--हो जाते हैं।

कहा जा सकता है कि यह असंख्यात स्थितिस्थान सिद्ध करने से लाभ क्या है? इसका उत्तर यह है कि यह विचार निष्कारण नहीं है। गणधर की बारीक बातों पर विश्वास हो जाय तो स्थूल बातों पर अविश्वास करने कोई कारण नहीं रहेगा। जैसे एक गणितज्ञ के बताये हुए बारीक हिसाब पर विश्वास हो जाने पर स्थूल हिसाब पर अविश्वास नहीं होता, इसी प्रकार अगर कोई कहे कि जैनों के शास्त्रों में जो बात बतलाई गई हैं, जो हिसाब बतलाया गया है, उसकी सत्यता का प्रमाण क्या है? तो उसे संतुष्ट करने के लिए यह हिसाब बतलाया गया है। अगर यह हिसाब सही है और इसके सही होने में कोई भी बाधा नहीं है, तो उन महात्माओं की अन्य-अन्य बातों पर भी विश्वास करना चहिए।

उन महात्माओं ने कहा है:—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेणवि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विभाग-कम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन ।

अर्थात्—हे गौतम ! मनुष्य-जन्म दुर्लभ है । बहुत से प्राणियों को अनंतकाल तक यह प्राप्त नहीं होता । कर्म-विपाक की तीव्रता के कारण अनंत काल तक वह इसे पाने में असमर्थ रहते हैं । गौतम ! ऐसा अतीव दुर्लभ मनुष्य भव प्राप्त हुआ है, इसलिए 'समय' मात्र का भी प्रमाद न कर ।

'समय' का अर्थ ऊपर बतलाया जा चुका है । अगर कोई यह सीख दे कि—बेटा, एक कोड़ी भी मत खोना । तो पिता की सीख मानने वाला पुत्र कोड़ी नहीं खोयगा और रुपये-पैसे खोएगा ? नहीं जो आज कौड़ी न खोएगा, वह कल रुपये-पैसे की भी बचत करेगा । इसी प्रकार भगवान ने समय मात्र प्रमाद में न जाने देने का जो उपदेश दिया है, उसे मानने वाला क्या दिन, वर्ष या सारा जीवन प्रमाद में गँवा देगा ? नहीं । जो एक समय भी खोएगा वही दिन और आयु भी खो सकता है ।

जिन महात्माओं ने ऐसी-ऐसी बारीक बातें बतलाई हैं, उन्हें किसी से कुछ लेना नहीं था । उन्हें किसी प्रकार का

स्वार्थ-साधन नहीं करना था। वह सर्वस्व परित्यागी और वीतराग महात्मा थे। सर्वथा निष्काम और परहित निरत थे। पूर्ण ज्ञानी भी थे। उनके असत्य बोलने का कोई कारण नहीं था। फिर वह मिथ्या उपदेश क्यों देते ? अतएव उनके उपदेशों की सत्यता पर दृढ़ विश्वास रख कर समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

नव घाटी मांहे भटकत भटकत पायो नरभव सार।
जाने पछे देवता जीवा थें किम जावो छो हार॥

एक घाटी में नहीं, किन्तु नौ घाटियों में चक्कर काटते-काटते गाड़ी पार हुई है। अब मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। अब पार लगी हुई गाड़ी को जान-बूझकर फिर क्यों चक्कर में डालते हो ? यह मनुष्य जन्म वह है, जिसके लिए देवता भी तरसते हैं।

भक्ति में लगे हुए भक्त को कहीं न कहीं से कोई अच्छी बात हाथ लग ही जाती है। भक्त तुकाराम कहते हैं:—

अनन्त जन्म ज्यारी केल्या तपराशी,
तरी हाता पवधी यने देह।
ऐसा हानिधान लाग लासी हाथी,
ज्याची केली माती भाग्यहीना ॥अन०॥
उत्तमाचा सार वेदाचा भंडार,
जयाते पवित्रे तीर्थं होती।

म्हणो तुकिया बन्धु आणी खओप,
नहीं याचा जन्मी दयाव आसो ॥अन०॥

महाराष्ट्र प्रदेश में मैं बारह वर्ष रह आया हूँ। कहावत प्रसिद्ध है--'पूत जावे दक्षिण, कुछ तो लावे लक्षण।' इसके अनुसार मैं दक्षिण से तुकारामजी की उक्त बात सोख कर आया हूं। हम मनुष्य हैं। हमारा कर्त्तव्य कम से कम मनुष्य मात्र से प्रेम रखना है। मनुष्य चाहे किसी भी जाति का हो, लेकिन मनुष्यत्व सभी के लिए दुर्लभ है।

तुकारामजी कहते हैं—अनन्तकाल तक तप किया—कष्ट उठाये, कीड़े–मकोड़े रहे तब कहीं यह मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है। कहा जाता है कि पत्थर के कोयले और हीरे के परमाणु मूलत: एक ही जाति के हैं। जो कोयला पृथ्वी में करोड़ों वर्ष तक दबा रहता है, वह हीरे के रूप में परिणत हो जाता है; जो जल्दी खोद लिया जाता है वह पत्थर ही रह जाता है।

अगर यह सत्य है तो कोयले और हीरे के परमाणु एक ही हैं, अन्तर सिर्फ यह है कि कोयला जल्दी खोद लिया जाता है और हीरा पृथ्वी का भार वहन करता हुआ देर तक दबा पड़ा रहता है। फिर भी क्या कोयले को हीरे के समान माना जा सकता है? क्या दोनों के परमाणुओं को एक जाति समझ कर कोयले के बदले हीरा दिया जा सकता है? अगर कोई पुत्र ऐसा करेगा तो उसका पिता उसे कपूत और मूर्ख समझ कर नाराज़ न होगा?

इसी प्रकार चिरकाल तक अनेक विध कष्ट उठाने के पश्चात् अत्यन्त कठिनाई से मनुष्य जन्म मिलता है ! तुकाराम कहते हैं—मूर्ख, ऐसे मनुष्यभव को मिट्टी के मोल गँवा रहा है।

शरीर में रक्त, मांस, हाड़, नस और मलमूत्र हैं। शरीर का रक्त, मांस आदि चढ़ाने के लिए खाते हो, पीते हो मगर जीवन के उच्च और प्रशस्त प्रयोजन की ओर ध्यान नहीं देते तो मनुष्य जन्म को मिट्टी में मिलाना नहीं तो और क्या है ? तुकाराम कहते हैं—जैसे भाग्यहीन पुरुष कोयले के बदले हीरा नष्ट करता है, उसी प्रकार, रे मूर्ख ! तू मनुष्य जन्म को मिट्टी कर रहा है।

कल्पना कीजिए, किसी के पास एक तिजोरी है। उसमें हीरा-पन्ना आदि जवाहरात भरे हैं। एक तिजोरी की वही है, जिसमें तिजोरी के भीतर की सब चीजों की सूची है। इन दोनों में महत्व किसका अधिक है—तिजोरी का अथवा वही का ? आप सभी एक स्वर से कहेंगे—'तिजोरी का' !' वही में तो तिजोरी के भीतर की चीज़ों के नाम हैं। वही लिखने वाले ने बुद्धिमत्ता की है कि गुप्त भेद का पता दे दिया है। उस सूची से तिजोरी की चीजें देखने में सहायता मिलेगी। मगर सूची की वही के बदले तिजोरी मत दे दो। इसी प्रकार एक ओर धर्म-शास्त्र हैं और दूसरी ओर शरीर है, जिसमें आत्मा विराजमान है। अब बतलाइए कि धर्मशास्त्र बड़ा या आत्मा

बही? सब शास्त्रों में आत्मा और शरीर का हिसाब बतलाया गया है। गीता के १३ अध्याय में भी कहा है—

> इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
> एतद्योवेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

अर्थात्—हे अर्जुन, यह शरीर क्षेत्र है और इसमें विराजने वाला आत्मा क्षेत्रज्ञ है।

इस प्रकार कहने वाली गीता, शरीर में रहे हुए आत्मा की बही है। लेकिन क्या हो रहा है? लोग बही के लिए लड़ते-झगड़ते हैं और तिजोरी की चीजें जा रही हैं उनकी ओर किसी का लक्ष्य ही नहीं है। धर्म के लिए लड़ते हैं मगर आत्मा का पतन हो रहा है, इसकी किसी को चिन्ता नहीं। हाँ, शास्त्रों की उपयोगिता अवश्य है और बहुत अधिक है, मगर हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम शास्त्र रूपी बही देखकर शरीर रूपी तिजोरी में बैठे हुए आत्मा-रूपी रत्न को देख-सँभालें और फिर शास्त्र रूपी बही को सही मानें।

मतलब यह है कि केवल शास्त्रों के शब्दों को ही पकड़ कर मत बैठो; किन्तु शास्त्र में जो कुछ लिखा है, वह आत्मा में है या नहीं, इसे देखो अगर किसी आदमी के सामने उसके धर्म शास्त्र का अपमान किया जाय तो उसे बुरा लगेगा, कोई जला दे तो वह मुक़दमा करेगा और कहेगा कि हमारे आत्मा

की वही को जला दिया। बुरा लगना अनुचित नहीं है, लेकिन वही जलने का दुःख मनाओ और जिसकी वह वही है, उस आत्मा का विनाश होने दो, यह उचित नहीं है।

हमारे आत्मा की वही ( नोंध ) तैयार करने में महात्माओं ने घोर परिश्रम किया है। शास्त्रों में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए बड़े परिश्रम से युक्तियाँ दी गई हैं, हेतु दिये गये हैं। इन शास्त्रों का आदर करो। उन्हें प्रमाण भूत मानो। मगर यह न करो कि शास्त्रों को ही लेकर बैठ जाओ और आत्मा को भूल जाओ। जैसे आप अपनी जाति के किसी भाई को कुव्यसन में पड़ा देख कर दुखी होते हैं, इसी प्रकार भक्तजनों को मनुष्य मात्र पर प्रेम और दया का भाव होता है और इसीलिए कुव्यसनों में पड़े मनुष्य को देख कर वे कहते हैं—यह अपने मनुष्य जन्म की मिट्टी कर रहा है। इसीलिए करुणा से प्रेरित होकर वे यह उपदेश देते हैं कि उत्तम और दुर्लभ मानव-भव पाया है तो इसे वृथा मत गँवाओ। भाग्यशाली होकर भाग्यहीन मत बनो। मनुष्य होकर मनुष्य जीवन का वास्तविक लाभ प्राप्त करो। जो ऐसा नहीं करते और भोगोपभोगों में एवं महल-मकानों में मस्त रहते हैं, उन्हें एक दिन महल-मकान छोड़कर नारकावास का अतिथि बनना पड़ता है।

भगवान ने यह बताया है कि रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में रहने वाले जीवों के स्थिति स्थान असंख्य हैं।

अब यह देखना है कि इन जीवों को नरक-स्थान में किसने रोक रक्खा है ? एक अंग पर विश्वास हो जाने पर दूसरे अंग पर विश्वास करना बुद्धि का काम है।

गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन् ! रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में बसने वाले जघन्य स्थिति के जीव-जो जीव एक ही स्थिति में वर्त्तते हैं, उनमें क्रोध अधिक है, मान अधिक है, माया अधिक है या लोभ अधिक है ? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं--गौतम ! वह सब जीव क्रोधी, मानी, मायी और लोभी हैं परन्तु कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि वे सब जीव क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं। ऐसे समय में मान, माया और लोभ नहीं देखा जाता।

भगवान ने नरक के जीवों को क्रोधी ही क्रोधी कहकर गति प्रत्यय का हिसाब लगाया है। जिसमें तमोगुण अधिक होगा, जो हल्की प्रकृति का होगा उसमें क्रोध ज्यादा मिलेगा, यह प्रत्यक्ष है। अतएव जहाँ ज्यादा क्रोध है वहीं नरक समझना चाहिए। नरक में क्रोध, परस्पर की लड़ाई और परस्पर की अशान्ति है। वहाँ के जीवों को आपस में मारामारी करना ही सूझता है; क्योंकि उनमें क्रोध बहुत है। एक बाप के चार पुत्र हों और उनमें क्रोध न हो तो शान्ति रहेगी। अगर वह सब क्रोधी हुए, आपस में लड़ने लगे तो घर ही नरक हो जायगा। घर में सांसारिक सुखों के सब साधन मौजूद भी हों

तब भी अगर भाई-भाई में लड़ाई-झगड़ा चलता हो तो वही सुख के साधन, दुःख के साधन बन जाते हैं। यह बात किसी से छिपी नहीं है। क्रोध की अधिकता से किस प्रकार अशान्ति की प्रचंड ज्वालाएँ भभकीं, कैसे-कैसे घमासान युद्ध मचे, इस विषय की कथाएँ सुनने पर हृदय द्रवित हो जाता है। बाप-बेटे भाई-भाई और जिनका संबंध आजकल बहुत समीप का समझा जाता है, उन पति-पत्नी की लड़ाई देखो तो ज्ञान होगा कि ये घर नहीं, नरक हैं।

कहावत प्रसिद्ध है कि रिस बड़ी सयानी होती है, इसलिए वह अपने पर ही आती है। अगर खुद का लड़का कोई काम बिगाड़ दे तो बहुत जल्दी आँखें लाल हो जाती हैं; कोई दूसरा बिगाड़े तो उतना और उतनी जल्दी गुस्सा नहीं आता। लेकिन जहाँ प्रेम है, अपना पन है, वहाँ प्रेम के बदले क्रोध हो तो वहाँ नरक नहीं समझना चाहिए।

भगवान ने कहा—कभी-कभी नरक के सब जीव क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके मान, माया और लोभ का क्षय हो जाता है। यहां भगवान ने जो कहा है, वह शुद्ध ऋजुसूत्रनय की बात है। ऋजुसूत्रनय के अनुसार भगवान ने फर्माया है कि नरक के सभी जीव कभी क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं। एक भाव की प्रबलता में दूसरे भाव स्वाभाविक ही दब जाते हैं। इसी नियम के अनुसार

क्रोध की प्रबलता में मान, माया और लोभ दब जाते हैं। मगर चारों ही प्रकृतियाँ विद्यमान अवश्य रहती हैं। केवल जिस समय जीवों का उपयोग क्रोध में रहता है, उस समय मान आदि में नहीं रहता।

ऋजुसूत्रनय कहता है—मैं वर्तमान काल को ही मानता हूं, भूत और भविष्यकाल असत् अविद्यमान हैं, इसलिए मैं उन्हें नहीं मानता। उदाहरणार्थ--एक आदमी सामायिक ग्रहण करके बैठा है। अगर उस समय उसका चित्त संसार के व्यवहार की ओर गया तो ऋजुसूत्रनय उसे संसार व्यवहारी मानेगा, सामायिक निष्ठ नहीं मानेगा। सामायिक में बैठने वाले का मन अगर मोची की दुकान पर गया, तो ऋजुसूत्रनय कहता है-वह मोची की दुकान का ग्राहक है, सामायिक करने वाला नहीं। सामायिक करने वाला वह तभी माना जायगा, जब उसका ध्यान सामायिक में हो। इसी प्रकार नरक के जीव जब क्रोध में होते हैं, उनका उपयोग क्रोध में होता है, तब वह क्रोधी हैं' मानी, मायी और लोभी नहीं है।

इस विषय में एक उदाहरण और लीजिए। जिसे लाख रुपये मिलने वाले हों या जिसके पास लाख रुपये थे, वह लोक व्यवहार में लाख-पति कहलाता है। लेकिन ऋजुसूत्रनव उसे लाख-पति नहीं मानता। जिसके अधिकार में वर्त्तमान काल में लाख रुपये हों उसी को वह लक्ष-पति मानता है।

लाख रुपये किसी के पास भले ही थे या होंगे लेकिन अगर वर्तमान में नहीं हैं, फिर भी उसे लखपति कहा जाय तो फिर चाहे जिसे लखपति कहा कहा जा सकता है। इस प्रकार ऋजुसूत्रनय उसे लखपति नहीं मानता, चाहे व्यवहार में उसे लखपति कहा जाय।

जैनधर्म अनेकान्तवादी है। वह सभी बातों का समाधान कर सकता है। लेकिन आज हम लोगों में ही खेंचातानी चल रही है। अगर यह खेंचातानी छोड़ कर देखें तो जैनधर्म वस्तु के किसी भी अंग का विरोधी नहीं है।

जब एक पक्ष का विरोध करके, दूसरे पक्ष की ही स्थापना की जाती है, तब विरोध उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, अनेक अंग मिलकर हाथी का पूर्ण शरीर कहलाता है। अब कोई आदमी हाथी का पाँव ही पकड़ कर कहता है कि हाथी खंभे के समान ही होता है, हमने टटोलकर देख लिया है। दूसरा सूंड पकड़ कर कहता है--हाथी डगले बाँह, मुद्गर सरीखा होता है। तीसरा पूंछ का स्पर्श करके कहता है-हाथी रस्सी सरीखा होता है। चौथे ने कान पकड़ कर कहा-हाथी सूप-सा होता है। पाँचवें ने कहा-हाथी कोठी के समान होता है, इत्यादि। ऐसे समय में ज्ञान कहता है--मेरा अभाव होने से ही ये सब लोग लड़ रहे हैं और एक दूसरे की बात को मिथ्या समझ रहे हैं। यद्यपि यह सब सच कह रहे हैं,

लेकिन अपूर्ण ज्ञान ( अज्ञान ) के कारण दूसरों की आपेक्षिक सत्य बात को भी असत्य कह कर स्वयं असत्यवादी बन रहे हैं। जो आदमी हाथी को खंभे सरीखा बतलाता वह ठीक कहता है, क्योंकि हाथी के पैर खंभे सरीखे ही होते हैं। लेकिन जो भाई हाथी को ( डगले की बाँह ) मुद्गर सरीखा कहता है, वह भी झूठ नहीं कहता, क्योंकि हाथी की सूंड़ ऐसी होती है। इसी प्रकार दूसरों की कही बातों पर अगर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया जाय तो सारा झगड़ा ही मिट जाय।

प्रत्येक मनुष्य के लिए, जो निष्पक्ष होकर सत्य का प्रकाश करना चाहता है, यही उचित है कि सब प्रश्नों पर यथोचित विचार करके न्याय करें। किसी एक ही पक्ष का दुराग्रह करना उचित नहीं है। वादी और प्रतिवादी की बात सुनकर, निचोड़ निकाल कर निर्णय देना ही न्याय है। धर्म भी इसी बात का समर्थन करता है। धर्म का आदेश है कि दुराग्रह के वश होकर लड़ाई-झगड़ा करना और बुद्धि का दुश्मन बनना उचित नहीं है।

मतलब यह है कि एक पक्ष को पकड़कर दूसरे पक्ष का विरोध करना ही लड़ाई की जड़ है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष किसी एक पक्ष को पकड़कर आग्रहशील नहीं होते और सब पक्षों पर यथा योग्य विचार करते हैं। वे हाथी के एक-एक अंग के आधार पर भिन्न-भिन्न रूप में हाथी बतलाने वाले

सब लोगों को उस उस अंश में सत्य मानते हैं और इस आंशिक सत्य के समन्वय में सम्पूर्ण सत्य का स्वरूप देखते हैं।

धर्म से शान्ति मिलनी चाहिए, लेकिन लोगों ने उसका दुरुपयोग करके उसे अशान्ति फैलाने वाला बना दिया है। आज धर्म के नाम पर जो अशान्ति फैल रही है, वह अन्य कारणों से होने वाली अशान्ति से क्या कम है। हिन्दू और मुसलमानों को लीजिए, जैनों-जैनों को देखिए, ईसाई-ईसाई के व्यवहार पर दृष्टि डालिए, सर्वत्र खींचतान और अशान्ति का साम्राज्य दिखाई देगा। इस अशान्ति को देखकर बहुत से लोग धर्म से ही घृणा करने लगते हैं और कहते हैं--संसार को धर्म की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार का आन्दोलन भी प्रारंभिक रूप में आरंभ हो गया है। लेकिन यह विचारहीनता का परिणाम है। यह आन्दोलन कोरे मस्तिष्क की चंचलता है। हृदय की बात दूसरी है। हृदय का विकास होने पर लोग धर्म के लिए आग में जलने को तैयार हो जाएँगे, लेकिन धर्म न छोड़ेंगे। इस बात की सत्यता के प्रमाण यूरोप का इतिहास भी उपस्थित करता है। यूरोप में कई लोगों से कहा गया कि तुम अपनी मान्यता बदल लो, अन्यथा तुम्हें आग में जला दिया जायगा। लोग आग में जल गये मगर उन्होंने अपनी मान्यता बदलना स्वीकार न किया। सिर्फ मस्तिष्क के विचार वाला ऐसा नहीं कर सकता। मस्तिष्क कहता है--छोड़ो

निगोड़े धर्म को, जल मरने में क्या रक्खा है? लेकिन हृदय, धर्म के लिए जल मरने में संकोच नहीं करेगा।

इस प्रकार कई लोग धर्म को अशान्ति का कर्त्ता समझते हैं, लेकिन कइयों ने इसके लिए मरना भी स्वीकार किया है। वास्तव में धर्म बहिष्कार के योग्य चीज़ नहीं है। रही धर्म के नाम पर लड़ाई होने की बात, सो ऐसी लड़ाइयों में धर्म का नाम चाहे दिया जाय मगर लड़ाई का असली कारण लोगों में विद्यमान दुर्भावना ही है। लोग किसे आधार बनाकर नहीं लड़ते? राष्ट्रीयता को आधार बनाकर क्या कम खून-खच्चर होता है? फिर भी राष्ट्रीयता और उसका शब्द मिटाने की चीज़ नहीं है। धर्म वास्तव में शान्तिकर्त्ता है, अशान्तिकारक नहीं। धर्म, ईश्वर या आत्मा का संदेश है। धर्म के बिना जीवन नहीं रह सकता और यदि रहेगा भी तो यहीं नरक के नज़ारे नज़र आएँगे। धर्म के अभाव में सर्वत्र हाय-हाय मच जायगी। अगर माता में धर्म बुद्धि न हो तो वह बालक का पालन-पोषण क्यों करे? आज के लोग चाहे धर्म के प्रति कृतघ्न हो जावें, लेकिन बुद्धि से विचार करने पर उन्हें अवश्य मालूम हो जायगा कि हमारी जिन्दगी धर्म के प्रताप से ही है।

आज संसार में ऐसे उपाय चले हैं, जिनसे संतान उत्पन्न होना बंद हो जाता है। कई लोग सोचते हैं—संतान होने से माता को कष्ट उठाना पड़ता है और पिता पर उत्तरदायित्व आ जाता है, पति-पत्नी के भोग-विलास का सुख चला जाता

है। इस प्रकार सन्तान सब तरह सुखों में बाधक है। ऐसे दुर्विचारों से प्रेरित होकर बहुत से लोगों ने कृत्रिम उपायों से सन्तति निरोध का आश्रय ग्रहण किया है।

ऐसे उपायों का आविष्कार हृदयहीन मस्तक की उपज है। मस्तक विचारता है कि हम भोग के लिए उत्पन्न हुए हैं। सन्तान हमारे भोग-विलास में वाधा पहुंचाती है, इसलिए इस बाधा को हटा देना ही अच्छा है। लेकिन सहृदय व्यक्ति ऐसा नहीं सोचेगा। वह विचार करेगा कि अगर हमें संतानोत्पति रोकनी है तो भोग-विलास का त्याग करके ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। भोग-विलास का त्याग करना और सेवाधर्म, प्रेम, दया, सहानुभूति आदि सात्विक भावना सिखाने वाले सन्तान प्रसव को कृत्रिम उपाय से रोकना अच्छा नहीं है। सन्तान प्रसव किये बिना स्त्रियाँ माता पद नहीं पा सकती मारणान्तिक कष्ट भोग करके भी सन्तान को पालन-पोषण करने के कारण ही माता का महिमामय पद उन्हे प्राप्त होता है। अतएव कृत्रिम उपायों से सन्तति निरोध करना घोर पाप है।

आज संसार में यह बड़ी गड़बड़ी चल रही है कि आर्थिक हानि करने वाले को तो धिक्कार दिया जाता है, लेकिन विषय भोग से शक्ति एवं जीवन नष्ट करने वाले को उलाहना भी नहीं दिया जाता। बल्कि इसी के लिए पुरुष शृंगार करते हैं और

पुरुषों को विषय की अग्नि में जलाने के लिए कुलटाएँ जो शृंगार करती थीं वह शृंगार कुलाङ्गनाएँ करने लगी हैं। वे शायद यही सोचती हैं कि हम सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषण पहनें और सिंगार सजाएँ, जिससे पुरुष विषय की आग में कूद पड़े। माँ-बाप अपने लड़के को धन खोते देखकर तो उलाहना देते हैं, लेकिन अगर वह धन कमाऊ हो किन्तु विषयवासना की आग में पड़ कर अपना जीवन नष्ट करता हो तो उन्हें कोई चिन्ता नहीं। वे इस ओर ध्यान नहीं देते, बल्कि विषय भोग के साधन जुटा कर विषय-भोग सुलभ कर देते हैं। इस प्रकार धर्म का असली स्वरूप तो भूल गये, और धर्म के नाम से अधर्म का सेवन करके भोग विलास बढ़ाया और अब कहते हैं--धर्म और ईश्वर का बहिष्कार करो। धर्म भोग-विलास बढ़ाने के लिए है या घटाने के लिए? माँ ने आपकी रक्षा धर्म से की है या अधर्म से? अगर माता में धर्मभाव न होता, दया न होती तो वह आपको उसी प्रकार नष्ट कर देती जैसे नागिन अपने अंडे और कुत्ती अपने बच्चों को खा जाती है। अगर ऐसा होता तो आज आपका कहाँ पता चलता?

जिस दिन संसार में धर्म उठ जायगा, उस दिन प्रलय मच जायगी, त्राहि-त्राहि की पुकार कानों को सुनाई देगी और संसार नरक बन जायगा। जिस दिन माता के दिल में दया-धर्म न होगा, उस दिन शिशुओं की क्या अवस्था होगी! इतिहास से प्रकट है कि बड़े-बड़े राजघरानों में अपनी कल्पित

प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, धन बचाने की कुत्सित कामना से या समान संबंधी न मिलने से झूठे बड़प्पन के प्रलोभन से लड़कियों को ज़हर दे दिया जाता था। धर्म के अभाव में ऐसी घटनाएँ क्या साधारण नहीं हो जाएँगी, यह कौन कह सकता है? मेरा विश्वास है कि आज लोग चाहे धर्म की महिमा भले ही न समझें, मगर जिस दिन धर्म न होगा, उस दिन सारा संसार उसी प्रकार तड़फड़ाएगा, जिस प्रकार भाड़ में पड़े हुए चने तड़फड़ाते हैं।

धर्म के विषय में यह कहकर कि मैं धर्म के नाम पर होने वाले झगड़ों और अत्याचारों का समर्थन नहीं करता, मैं शुद्ध धर्म की बात कहता हूँ, धर्म के नाम पर होने वाले अन्याय और अत्याचार अवश्य निंद्य हैं; मगर ज्ञानियों ने ऐसे झगड़े मिटाने के लिए ही उपदेश दिया है। वे कहते हैं—हाथी का एक-एक अंग छूकर लड़ने वाले आँख खोलकर देख लें और आपस में विचार करके एक दूसरे की बात की सचाई का अनुभव करें, तो झगड़ा खत्म हो जायगा। ज्ञानियों ने लड़ाई मिटाने का जो उपाय बताया है, वह अच्छा है या हाथी का पाँव अथवा सूंड पकड़कर, एक-एक अंग को पूरा हाथी सिद्ध करने की चेष्टा में लड़ मरना अच्छा है?

अब यह प्रश्न खड़ा होता है कि जैन धर्म एक ही वस्तु को एक रूप न कहकर अनेकरूप कहता है, सो यह कैसे ठीक हो

सकता है ? कभी हाथी को खंभे जैसा और कभी रस्सी जैसा कहना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ? जिस वाद में वस्तु क्षण-क्षण में बदलती है, उसे अनेकान्तवाद न कहकर भ्रमवाद या संशय वाद क्यों न कहा जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनेकान्तवाद वस्तु को जिस समग्रता से देखता है, उसी समग्रता से अगर आप भी देखें तो जैनधर्म को भ्रमवाद कहने का भ्रम नहीं रह जायगा। हाथी को चाहे रस्सी जैसा कहो, चाहे खंभे जैसा कहो, हाथी दोनों प्रकार के कथनों में आता है। हाथी एक है लेकिन धर्म उसमें अनेक हैं। अनेक धर्म होने के कारण उसकी अनेक पदार्थों से तुलना की जा सकती है। बल्कि ऐसा करने पर ही हाथी का पूरा स्वरूप समझा जा सकता है।

कल्पना कीजिए, एक मनुष्य मकान के दूसरे मंजिल पर बैठा है। अब आप उसके संबंध में एक ही निर्णय दीजिए कि वह ऊपर बैठा है या नीचे बैठा है ? वह पूर्व में बैठा है अथवा पश्चिम में बैठा है ? जब आप उसे ऊपर बैठा कहेंगे तो आपको अपेक्षा लगानी पड़ेगी। पहले मंजिल वालों की अपेक्षा वह ऊपर है, इस प्रकार की अपेक्षा किये बिना आपके कथन का ठीक अर्थ नहीं घटेगा; क्योंकि तीसरे मंज़िल वालों की अपेक्षा वह नीचे भी बैठा है। अगर बिना अपेक्षा के ही आपने कह-दिया तो तीसरे मंज़िल वाले कहेंगे—आप असत्य कहते हैं; वह हम से नीचे बैठा है। इस प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं का

आश्रय लेकर ही आप उक्त प्रश्न का सही उत्तर दे सकते हैं। यही बात दिशाओं संबंधी प्रश्न में है। किसी अपेक्षा से उसे पूर्व में मानना होगा, किसी अपेक्षा से पश्चिम, उत्तर या दक्षिण में। वह पूर्व वालों से पश्चिम में और पश्चिम वालों की अपेक्षा पूर्व में कहलायगा।

एक उदाहरण और लीजिए। एक ही किसी व्यक्ति को पिता कहें, पुत्र कहें या मामा कहें? इस प्रश्न का उत्तर देने में आपको अपेक्षा का आश्रय लेना ही पड़ेगा। अगर आप विना अपेक्षा के एक आदमी को पिता कहेंगे तो वह अपने पिता का भी पिता कहा जयगा। पुत्र कहेंगे तो अपने पुत्र का भी पुत्र कहलायगा। हाँ, अगर आप एकान्तवाद के फेर में न पड़कर अपेक्षा का ख़याल करें तो सही उत्तर मिल जायगा। वह व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है, अपने मामा की अपेक्षा भानेज है और भानेज की अपेक्षा मामा है। इस पर भी अगर आप कहें कि एक ही आदमी को पिता, पुत्र आदि कहना कैसे उचित कहा जा सकता है, तो लाचारी है। वस्तु का स्वरूप जैसा है, उसे वैसा ही समझना चाहिए। अनुभव, व्यवहार और तर्क जिसका एकमत से समर्थन करते हैं, उसे स्वीकार न करना विवेक शीलता का लक्षण नहीं है।

आपसी झगड़े किस प्रकार मिट जाते हैं, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए।

एक आदमी ऊँट पर चढ़कर जंगल में जा रहा था। जाते-जाते उसने देखा—ऊँटों का एक टोला सामने खड़ा है और तीन आदमी आपस में लड़-झगड़ रहे हैं। तीनों कहते हैं—मैं अपना हक़ नहीं छोड़ सकता, मैं अपना हक़ नहीं छोड़ सकता। आपस में बातें होते-होते मारामारी की नौबत आ पहुँची। यह ऊँटवाला समझदार था, इसलिए दूसरे के झगड़े को अपना झगड़ा और दूसरों की शान्ति को अपनी शान्ति समझता था। जब वह उनके पास पहुँचा तो उसने अपना ऊँट खड़ा किया और लड़ने वालों से पूछा—भाइयो ! आप लोग क्यों लड़ रहे हैं ?'

उत्तर मिला—'तुम अपना रास्ता नापो। तुम्हें किसने पंच बनाया है ? हम भाई-भाई आपस में समझ लेंगे।'

ऊँट वाला—तुम्हारा कहना ठीक है। लड़ाई प्रायः संबंधी में ही होती है। लेकिन मैं भी तो तुम्हारा संबंधी हूँ।

उन्होंने कहा—'अरे जाओ भी, रास्ता चलते संबंधी बनने आए हो !'

ऊँट वाला—मैं तुम्हारी तरफ़ से चाहे संबंधी न होऊँ, लेकिन मैं अपनी तरफ़ से तो संबंधी ही हूँ। अगर अपना झगड़ा मुझे बता दो तो हानि क्या है ?

आखिर लड़ने वालों पर उसकी बात का प्रभाव पड़ा। उनमें से एक ने कहा—हम तीनों भाई-भाई हैं। यह सत्तरह

ऊँट हमारे हैं। हम में हक़ का झगड़ा हो रहा है। इन ऊँटों में एक के आधे हैं, एक के चौथाई हैं और एक के आठवें हिस्से के हैं। कुल ऊँट सत्तरह हैं। आधे के हक़दार के हिस्से में साढ़े आठ होते हैं, चौथाई वाले के हिस्से में सवाचार और आठवें हिस्से के हक़दार के हिस्से में दो से कुछ अधिक आते हैं। अपने हक़ में से कोई आधा या चौथाई ऊँट छोड़ने को तैयार नहीं है और ऊँट काटा नहीं जा सकता। अब झगड़ा मिटे तो कैसे?

ऊँट वाले ने इन तीनों भाइयों से कहा–मैं भी तो आपका ही हूं। आप अपने सत्तरह ऊँटों में एक मेरा ऊँट मिला लो और अपना-अपना हिस्सा ले लो। आपका हिस्सा होने पर अगर मेरा ऊँट बचा तो ठीक, न बचा तो भी कोई बात नहीं।

ऊँट वाले की बात सुनकर तीनों भाई बड़े प्रसन्न हुए। मन में सोचने लगे–ऊँट दे कर संबंध जोड़ने वाला यह खूब मिला! उन्होंने उसका स्वागत करते हुए कहा–अच्छा, आप ही हमारा झगड़ा निवटाइए।

मुसाफिर ने आधे के हक़दार को बुलाकर कहा–'तुम साढ़े आठ ऊँट चाहते हो, उनके बदले अगर नौ ऊँट दिये जाएँ तो कुछ आपत्ति तो नहीं होगी!' उसने उत्तर दिया–'ने की पूछ-पूछ! भला इसमें आपत्ति ही क्या है? मैं आपके गुण गाऊँगा।' मुसाफ़िर ने उसे नौ ऊँट दे दिये।

तदनन्तर उसने चौथाई के हक़दार को बुलाया और कहा 'तुम सवाचार ऊँट चाहते हो, लेकिन पाँच-ऊँट ले लो।' वह भी प्रसन्न हुआ।

सब के पीछे आठवें हिस्से का हक़दार आया। वह दो से कुछ अधिक ऊंट चाहता था, मगर उसे तीन ऊंट दिये गये। उसकी प्रसन्नता का पार न रहा।

इस प्रकार उस मुसाफ़िर ने उन्हीं लोगों के सत्तरह ऊँट उन्हीं लोगों में बांट कर उन्हें प्रसन्न कर दिया। उनकी लड़ाई मिट गई और वह अपने ऊँट पर बैठ कर चला गया।

यह हृदय का न्याय है। यदि यह न्याय आप को पसंद आया हो तो आप भी सब भाइयों के ईश्वर की ओर से संबंधी हैं। यदि आप अपने इस संबंध को दृढ़ बनाना चाहते हैं तो सब को ईश्वर की सन्तान मानकर मुसाफिर की तरह अपना ऊँट घुसेड़कर उनका झगड़ा मिटाओ। ऐसा करने से आप ईश्वर के बन जाएँगे।

ख़याल आता है मुझे दिलजान तेरी बात का।<br>
ख़बर तुझको है नहीं आगे अँधेरी रात का॥<br>
जोबन तो कल ढल जायगा दरियाव है बरसात का।<br>
बोर कोई न खाएगा उस रोज तेरे हाथ का॥<br>
तू तो निकल कल जायगा रह जायगी मिट्टी पड़ी।<br>
नित हरी रहती नहीं नादान! फूलों की छड़ी॥

जो ईश्वर का होगा, जिसे ईश्वर या धर्म का बनने का विचार होगा, उसे अपने आपको भूलकर दूसरे पर ध्यान देना होगा। जैसे अच्छे भाई अपना आपा भूलकर अपने भाई की भलाई का ख्याल करता है, उसी प्रकार संसार की भलाई पर ध्यान देना होगा।

कदाचित कोई यह कहे कि संसार की भलाई-बुराई से आपको क्या प्रयोजन है? आप अपनी चिन्ता कीजिए, संसार की चिन्ता क्यों करते हैं? इसका संक्षिप्त समाधान यह है कि संतों का हृदय संसार के जीवों की हलचल देखकर दया से काँपता रहता है। वे विचारते हैं कि यह प्राणी क्या करने आये थे और क्या कर रहे हैं? यह अपना हित क्यों नहीं सोचते? अन्त में इन्हें परलोक जाना ही पड़ेगा, तब कौन इनका सहायक होगा।

ज्ञानियों को संसार के प्राणियों के प्रति इस प्रकार की चिन्ता रहती है। लोग ताश और शतरंज में अपना समय व्यतीत करते हैं, मगर हित की बात नहीं विचारते। अगर कोई बतलाना भी चाहता है, तो उन्हें सुनने का अवकाश नहीं है। इसी कारण संत पुरुष ऐसा सोचते हैं और आपको भी ऐसा ही सोचना चाहिए।

मैं यह नहीं कहता कि मेरे पास व्याख्यान सुनने के लिए न आने वाले लोग धार्मिक नहीं हैं। जो निरोग है वह दवा क्यों

लें ? अच्छा वैद्य तो यही चाहता है कि रोगी का रोग जल्दी दूर हो जाय और इसका अस्पताल में आना बंद हो जाय। उस समय उसे भी चिन्ता हो जाती है जब रोग सार्वत्रिक रूप से फैल जाता है और उसके पास भीड़ जमा रहती है। यही बात हमारी है। अगर आपको भी संसार के मनुष्यों की ऐसी ही चिन्ता है तो आप ऊँट वाले के समान लोगों के संबंधी बन जाइए और उसका झगड़ा मिटाने की चेष्टा कीजिए। संसार में एक से एक बढ़ कर दुखी पड़े हैं। विधवाओं और अनाथों की जिंदगी किस प्रकार खराब हो रही है, खाने को न मिलने से किस प्रकार उनका पतन हो रहा है, यह कौन देखता है ? अगर कोई सहृदय, सच्ची सेवाभावना से प्रेरित होकर इनका उद्धार और सुधार करने के लिए खड़ा हो जाय और उनकी दशा सुधारने में ही अपनी जिन्दगी का सुधार माने तो सचमुच ही उनकी भी जिंदगी सुधर जाय।

आज संसार के लोगों ने यह मान रखा है कि ईश्वर भक्त द्वारा भी अगर अन्यायी की गरदन उड़ा दी जाय तो पाप नहीं है। राजनीति भी इसका समर्थन करती है। मगर यह सचाई नहीं है। तलवार के जोर से थोड़ी देर के लिए अन्याय दब सकता है, लेकिन उसकी प्रतिक्रिया बड़ी भयानक होगी। हिंसक उपाय से एक जगह अन्याय दबाया जायगा तो वह दूसरी अनेक जगहों पर उत्पन्न हो जायगा। देवी भागवत में शुम्भ और विशुम्भ की कथा आई है। कहा गया है कि देवी ने

दोनों का वध किया था। देवी एक जगह इन्हें काटती थी तो इनके एक रक्त-बिन्दु से हजारों शुम्भ और निशुम्भ उत्पन्न हो हो जाते थे। मेरे खयाल से यह अलंकारिक वर्णन है। इसके आधार पर हिंसा मानना भूल है। साक्षात् देवी अहिंसा है। अगर हिंसा द्वारा शान्ति चाही जायगी तो अन्त में घोर अशान्ति ही पल्ले पड़ेगी। इसके विपरीत अगर अहिंसा की तलवार को लेकर राग-द्वेष का वध करोगे तो वैर का जहर मिट जायगा। यह दूसरी बात है कि आप अहिंसा का पूर्णरूप से आचरण न कर सकें, लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'अहिंसा स्वयमेव एक अमोघ शक्ति है।' आज अकेला भारत ही अहिंसा को शक्ति नहीं मानता, वरन् सारा एशिया और यूरोप भी अहिंसा की महिमा से गूँज रहा है।

अहिंसा कायरों की शान्ति नहीं है। कायरों ने तो अहिंसा को कलंकित किया है। जब से अहिंसा कायरों की गोद गई है, तभी से गिर गई है। आज आपमें पूर्वजों के प्रताप से अहिंसा के जो संस्कार हैं, उनके कारण कोई लाख रुपयों का प्रलोभन दे तो भी आप बकरा मारने को तैयार न होंगे। लेकिन दूसरी ओर अपनी कायरता और भीरुता के कारण ऐसे-ऐसे काम कर डालते हैं कि जिनका परम्परा परिणाम मनुष्य वध तक हो जाता है, फिर भी इसकी चिन्ता नहीं की जाती। बकरे की ओर ही देखा और दूसरी ओर भीरुता के कारण ध्यान न दिया तो यह अहिंसा को दूषित करना होगा।

अहिंसा का भक्त न स्वयं डरेगा और न दूसरे को डराएगा। अगर आपने अहिंसा की प्रतिष्ठा न बढ़ाई तो संसार नरक बन जायगा। जैसे नरक में कोई समय ऐसा आता है जब सभी नारकी क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं, इसी प्रकार इस लोक में भी ऐसा समय आ सकता है कि सभी मनुष्य हिंसक ही हिंसक हो जाएँ!

यह पहले कहा जा चुका है कि क्रोध बहुत होने का अर्थ यह नहीं है कि नारकियों में मान, माया और लोभ नहीं होता। मान, माया और लोभ भी उनमें होते हैं, परन्तु उन जीवों का उपयोग जब क्रोध में रहता है, तब मान आदि में नहीं रहता उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए, किसी सेठ की चार दुकान है--एक बजाजी की है, सराफ़ी की है, तीसरी गल्ले की है और चौथी पंसारी की है। दुकान चार हैं और दुकानदार एक है। वह दुकानदार जब सराफ़ी की दुकान पर बैठ कर व्यापार करता है, तब उसकी शेष तीन दुकानें बंद नहीं हैं, लेकिन वह व्यापार एक ही दुकान पर कर रहा है! इसी प्रकार नरक के जीवों में क्रोध आदि चारों कषाय मौजूद हैं। जब वे क्रोधी होते हैं तब भी उनमें मान, माया और लोभ विधमान रहते हैं किन्तु उस समय वह क्रोध का ही व्यापार करते हैं। इसलिए उन्हें क्रोधी ही क्रोधी कहा है।

नरक में क्रोध बहुत होता है। अगर आप लोगों ने नरक नहीं देखा है तो घर या घट तो देखा है? क्रोध की अधिकता

से घर या घट भी नरक के समान हो जाता है, यह तो आप देखते ही हैं। इसलिए ज्ञानियों ने कहा है कि जहाँ क्रोध बहुत है, वहाँ नरक है।

भगवान कहते हैं—गौतम ! यह एक भंग की बात हुई। इसी प्रकार सत्ताईस भंग हैं। कोई समय ऐसा होता है कि नरक के सभी जीव क्रोधी ही क्रोधी होते हैं, तो कभी ऐसा भी समय होता है जब क्रोधी भी बहुत होते हैं और मानी भी बहुत होते हैं। कभी क्रोधी बहुत और मानी एक ही होता है। इसी प्रकार क्रोध और मान, क्रोध और माया तथा क्रोध और लोभ के भंग हैं। यह दो-संयोगी भंग हुए। इन दो-संयोगी भंगों की संख्या छह है और एक अकेले क्रोध का भंग इनमें मिलाने से सात भंग होते हैं। दो-संयोगी भंगों के समान तीन-संयोगी भंग भी हैं। जैसे-क्रोधी बहुत, मानी बहुत मायी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक और मायी बहुत। क्रोधी बहुत, मानी बहुत, मायी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक, लोभी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक, लोभी बहुत। इस प्रकार तीन-संयोगी भंग बारह हैं। तत्पश्चात् चार-संयोगी भंग आते हैं। जैसे-क्रोधी बहुत, मानी एक, मायी एक और लोभी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक, मायी एक और लोभी बहुत। इस प्रकार के भंग आठ हैं। यह सब मिलकर सत्ताईस भंग होते हैं।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—भगवन ! दस हजार वर्ष से एक समय अधिक स्थिति वाले का स्थितिस्थान अलग

है। ऐसी अवस्था में उन जीवों के यही भंग होंगे या कम-ज्यादा ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फ़र्माते हैं—गौतम! जघन्य स्थिति से एक समय अधिक स्थिति वाले जीव के विषय में सत्ताईस भंगों के बदले अस्सी भंग होते हैं। जघन्य स्थिति वाले जीव का कभी विरह नहीं होता-अर्थात् ऐसा कभी नहीं होता कि कोई न कोई जीव जघन्य स्थिति वाला नरक में न हो। परन्तु एक समय से लेकर संख्यात समय अधिक तक की स्थिति वाले जीवों का कदाचित विरह भी हो जाता है। किसी समय ऐसा एक ही जीव पाया जाता है और कभी असंख्य पाये जाते हैं। कभी जीव क्रोधी भी हो सकते हैं, मानी भी हो सकते हैं, मायी भी हो सकते हैं और लोभी भी हो सकते हैं। यह चार भंग हुए। इसी प्रकार क्रोधी बहुत, मानी बहुत, मायी बहुत और लोभी बहुत यह चार भंग हैं। इसी तरह क्रोधी और मानी, क्रोधी और मायी, क्रोधी और लोभी, मानी और मायी, मानी और लोभी, तथा मायी और लोभी, इन दो संयोगी के प्रत्येक के चार-चार भंग के हिसाब से चौबीस भंग हुए। इसी प्रकार तीन संयोगी के बत्तीस और चार संयोगी के सोलह भंग हैं। यह सब मिलकर अस्सी भंग हुए। मतलब यह है कि जघन्य स्थिति से एक समय अधिक स्थिति वाले जीवों का कभी-कभी विरह भी हो जाता है, इसलिए इनके अस्सी भंग होते हैं। आगे जघन्य स्थिति से

असंख्यात समय अधिक स्थिति वाले जीवों से लेकर उत्कृष्ट स्थिति वाले जीवों का कभी विरह नहीं होता। अतएव उनमें जघन्य स्थिति वालों के समान सत्ताईस भंग ही होते हैं।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि विरह काल का समय कौन-सा लिया जाय? अगर उत्पाद का विरहकाल चौबीस मुहूर्त्त लिया जाय तो सूत्र का संबंध विच्छिन्न हो जाता है और जहाँ सत्ताईस भंग माने गये हैं वहाँ अस्सी भंग मानने पड़ेंगे। अतएव उत्पाद का विरहकाल न लेकर क्रोधोपयुक्त नारकी जीवों की सत्ता की अपेक्षा से ही विरह काल लेना चाहिए।

# अवगाहना स्थान
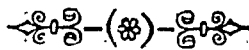
मूलपाठ—

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ओगाहणाठाणा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! असंखेज्जा ओगाहणा ठाणा पण्णत्ता । तंजहा—जहण्णिया ओगाहणा, पदेसाहिया, जहन्निया ओगाहणा, दुप्पएसहिया जहन्निया ओगाहणा, जाव असंखेज्ज पएसाहिया जहण्णिया ओगाहणा । तप्पाउग्गुकोसिया ओगाहणा ।

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि णिरया-

वासंसि जहरिणयाए ओगाहणाए वट्टमाणा णेरइया किं कोहोवउत्ता• ?

उत्तर—गोयमा ! असीइभंगा भाणियव्वा, जाव-संखिज्जपएसाहिया, जहन्निया ओगाहणा, असंखेज्जपएसाहियाए जहरिणयाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं, तप्पाउग्गुक्कोसियाए ओगाहणाए वट्ट-माणाणं नेरइयाणं दोसुवि सत्तावीसं भंगा ।

संस्कृत छाया

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्त्रिंशति निरयावास शतसहस्त्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे नैरयिकाणां कियन्ति अवगाहनास्थानानि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर—गौतम ! असंख्यानि अवगाहनास्थानानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा–जघन्या अवगाहना, प्रदेशाधिका जघन्याऽवगाहना, यावत् असंख्येयप्रदेशाधिका जघन्याऽवगाहना, तत्प्रायोग्योत्कर्षिका-ऽवगाहना ।

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्त्रिंशति निरयावास शत् सहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे जघन्याऽगाहनया वर्त्तमाना नैरयिका किं क्रोधोपयुक्ताः ?

उत्तर—गोयमा ! अशीति भङ्गा भणितव्याः, यावत् संख्यात् प्रदेशाधिका जघन्याऽवगाहना। असंख्येय प्रदेशाधिकया जघन्याऽवगाहनया वर्त्तमानानाम्, तत्प्रायोग्योत्कर्षिक्याऽवगाहनया वर्त्तमानानाम् नैरयिकाणाम् द्वयोरपि सप्तविंशति भङ्गा।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में, तीस लाख नारकवासों में के एक-एक नारकवास में बसने वाले नारकियों के अवगाहनास्थान कितने कहे गये हैं ?

उत्तर—गौतम ! उनके अवगाहनास्थान असंख्येय कहे हैं। वे इस प्रकार हैं—जघन्य अवगाहना (अंगुल के असंख्यातवें भाग), एक प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना, दो प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना, यावत् असंख्यात प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना, तथा उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख नारकावासों में के प्रत्येक नारकावास में, जघन्य अवगाहना में वर्तने वाले नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं ?

उत्तर—गौतम ! अस्सी भंग कहने चाहिए । यावत्-संख्यात् प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना वालों के भी अस्सी भंग समझना । असंख्यात प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना में वर्तने वाले और उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना में वर्तने वाले नारकियों के—दोनों के सत्ताईस भंग कहने चाहिए ।

## व्याख्यान

यहाँ अवगाहना संबंधी विचार किया गया है । स्थिति की अपेक्षा अवगाहना का विचार सूक्ष्म है । एक उंगली रखने में भी आकाश के असंख्य प्रदेश रुकते हैं । आँख मींचकर खोलने में भी असंख्य समय निकल जाते हैं ।

श्री गौतम स्वामी भगवान से पूछते हैं—प्रभो ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से एक-एक नारकावास में बसने वाले नारकी जीवों के अवगाहना स्थान कितने हैं ?

जैसे स्थिति के स्थान हैं, उसी प्रकार अवगाहना के भी स्थान हैं । जिसमें जीव रहे सो अवगाहना कहते हैं—अर्थात् शरीर या आकाश-प्रदेश । गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि एक-एक नारकावास में बसने वाले नारकियों के शरीरस्थान

कितने हैं ? अर्थात् उन नारकियों के शरीर कितने आकाश-प्रदेशों में रहते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान फ़र्माते हैं--हे गौतम! एक-एक नारकावास में वसने वाले जीवों के अवगाहना स्थान असंख्य-असंख्य हैं। कम से कम उनकी अवगाहना-शरीर-अंगुल के असंख्यातवें भाग बराबर होता है। इस जघन्य अवगाहना से एक प्रदेश अधिक, दो प्रदेश अधिक, इस प्रकार असंख्यात प्रदेश अधिक तक के शरीर वाले होते हैं। अतः अवगाहनास्थान असंख्यात हैं।

जिसमें जीव ठहरता है, वह अवगाहना है, अर्थात् जीव की लम्बाई-चौड़ाई अवगाहना कहलाती है। यह शरीर-अवगाहना है। जिस क्षेत्र में जीव रहते हैं उसे भी अवगाहना कहते हैं।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन्! जघन्य अवगाहना वाले नारकी क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी, हैं या लोभी हैं?

भगवान उत्तर देते हैं--हे गौतम! स्थिति के समान यहाँ भी अस्सी अंग जानने चाहिए। जघन्य अवगाहना से असंख्य प्रदेश अधिक तथा उत्कृष्ट अवगाहना वालों के सत्ताईस भंग होते हैं।

यहाँ यह आशंका होती है कि जघन्य स्थिति में सत्ताईस भंग कहे हैं, फिर यहाँ जघन्य अवगाहना में अस्सी भंग कहने

का क्या कारण है ? इस शंका का समाधान यह है कि जघन्य स्थिति वाले नरक के जीव, जब तक जघन्य अवगाहना वाले रहते हैं, तब तक उनकी अवगाहना के अस्सी भंग ही होते हैं, क्योंकि जघन्य अवगाहना वाले जीव कम होते हैं। जघन्य वाले जिन नारकी जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, वे जघन्य अवगाहना को उल्लंघन कर चुके होते हैं। उनकी अवगाहना जघन्य नहीं होती इसलिए सत्ताईस ही भंग कहे गये हैं।

जघन्य अवगाहना से संख्यात प्रदेश की अधिक अवगाहना वाले जीव नरक में कम मिलते हैं, इसलिए अस्सी भंग कहे हैं और जघन्य अवगाहना से असंख्यात प्रदेश अधिक की अवगाहना वाले तथा उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीव नरक में अधिक पाये जाते हैं, इसलिए उनके सत्ताईस भंग कहे हैं।
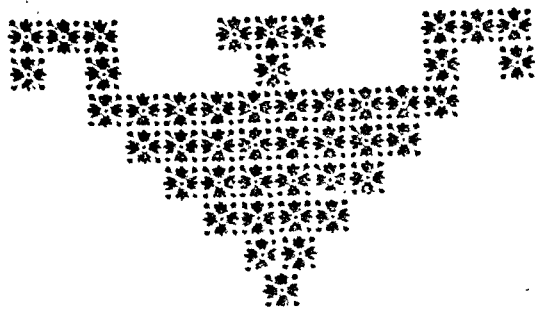
# शरीर

मूलपाठ—

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं कइ सरीरया पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! तिन्नि सरीरया पन्नत्ता । तं जहा—वेउव्विए, तेयए, कम्मए ।

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! जाव—वेउव्वियसरीरे वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा । एएणं गमेणं तिन्नि सरीरा भाणियव्या ।

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभा पुढविए जाव नेरइयाणं सरीरया किंसंघयणी पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी, नेवट्ठी, नेव च्छिरा, नेव ण्हारूणि । जे पोग्गला अणिट्ठा, अकंता, अप्पिया, असुहा अमणुन्ना, अमणामा, एतेसिं सरीरसंघायत्ताए परिणामंति।

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! जाव–छण्हं संघयणाणं असंघयणे वट्टमाणा णं नेरइया किं कोहो वउत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! सत्तावीसं भंगा ।

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव–सरीरया किंसंठिया पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-भवधारणिज्जा य उत्तर वेउव्विया य । तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया पन्नत्ता, तत्थ णं जे ते उत्तर वेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पन्नत्ता ।

प्रश्न—इमीसे णं जाव-हुँडसंठाणे वट्टमाणा नेरइया किं कोहो वउत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! सत्तावीसं भंगा ।

संस्कृत छाया—

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! रत्नप्रभायां यावत् एकैकस्मिन् निरयावासे नैरयिकाणां कति शरीराणि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर—गौतम ! त्रीणि शरीराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा-वैक्रियम्, तैजसम्, कार्मणम् ।

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! यावत्-वैक्रियशरीरे वर्त्तमाना नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः ?

उत्तर—गौतम ! सप्तविंशतिर्भङ्गा भणितव्याः । एतेन गमेन त्रीणि शरीराणि भणितव्यानि ।

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! रत्नप्रभापृथिव्या यावत्-नैरयिकाणां शरीराणि संहननानि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर—गौतम ! षण्णां सहननानाम् असंहननानि; नैवास्थि, नैव शिराः, नैव स्नायवः, ये पुद्गला अनिष्टाः, अकान्ताः, अप्रियाः, अशुभाः, अमनोज्ञाः, अमनोमाः, एतेषां शरीरसंघाततया परिणमन्ति ।

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! यावत्-षण्णां संहननानां असंहनने वर्तमाना नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः ?

उत्तर—गौतम ! सप्तविंशतिर्भङ्गा ।

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! रत्नप्रभाया यावत्—शरीराणि किंसंस्थितनि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर—गौतम ! द्विविधानि प्रज्ञाप्तानि, तद्यथा-भवधारणी-यानि च, उत्तरवैक्रियाणि च । तत्र यानि भवधारणीयानि तानि हुण्डसंस्थितानि प्रज्ञप्तानि, तत्र यानि उत्तर वैक्रियाणि तान्यपि हुण्डसंस्थितानि प्रज्ञप्तानि ।

प्रश्न—एतस्या ! यावत्—हुण्डसंस्थाने वर्तमाना नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः ?

उत्तर—गौतम ! सप्तविंशतिर्भङ्गाः ।

## शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथिवी से तीसलाख नारकावासों में के एक-एक नारकावास में बसने वाले नारकी जीवों के शरीर कितने हैं ?

उत्तर—गौतम ! उनके तीन शरीर कहे हैं, वे इस प्रकार—वैक्रिय, तैजस और कार्मण ।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथिवी में तीसलाख नारकवासों में के प्रत्येक नारकावास में बसने वाले वैक्रियक शरीर वाले नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं ?

उत्तर—गौतम ! सत्ताईस भंग कहने चाहिए और इसी प्रकार शेष दोनों शरीरों अर्थात् सब तीनों शरीरों के संबंध में सही बात कहनी चाहिए।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथिवी में यावत्—बसने वाले नैरयिकों के शरीरों का कौन-सा संहनन है ?

उत्तर—गौतम ! उनका शरीर संहनन-हीन है—उसमें संहनन नही होता। और उनके शरीर में हड्डी, शिरा (नस) और स्नायु नहीं होती। जो पुद्गल अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमनोय हैं, वह पुद्गल (नारकियों के) शरीर संघान रूप में परिणत होते हैं।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथिवी में यावत्—बसने वाले और छह संहननों में से एक भी संहनन जिनके नहीं है, वह नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं ?

उत्तर—सत्ताईस भंग जानने चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! रत्नप्रभा पृथिवी में यावत् वसने वाले नैरयिकों के शरीर किस संस्थान वाले हैं?

उत्तर—गौतम! उन नारकियों का शरीर दो प्रकार का कहा है वह इस प्रकार–भवधारणीय–जीवन पर्यन्त रहने वाला–और उत्तर वैक्रिय। उनमें जो शरीर भवधारणीय हैं, वे हुंडसंस्थान वाले कहे हैं और जो शरीर उत्तर वैक्रिय रूप है, वह भी हुंडसंस्थान वाले कहे हैं?

प्रश्न—भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में यावत्–हुंडसंस्थान में वर्त्तमान नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं?

उत्तर—गौतम! यहाँ सत्ताईस भंग कहने चाहिए।

## व्याख्यान

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के एक-एक नारकावास में वसने वाले नारकियों के कितने-कितने शरीर हैं?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फ़र्माते हैं—हे गौतम! उनके तीन शरीर हैं—वैक्रियक, तेजस और कार्मण।

जिसमें आत्मा व्याप्त होकर रहता है, अथवा क्षण-क्षण जिसका नाश होता रहता है, उसे शरीर कहते हैं।

यद्यपि हम लोगों को यह मालूम नहीं होता कि शरीर क्षण-क्षण में नष्ट हो रहा है, लेकिन वास्तव में शरीर का नाश प्रतिक्षण होता है। किसी नदी की निरन्तर प्रवाहित होने वाली धारा पर ध्यान दीजिए तो जान पड़ेगा कि यह वही जल है, जिसे हमने पहले देखा था। पर वास्तव में वह जल तो उसी समय चला गया और अब न जाने कहाँ पहुंचा होगा। उसके स्थान पर उसी के समान प्रतीत होने वाला दूसरा जल आगया है। बिना क्रम टूटे, दूसरा जल आजाने से पहले वाले जल का जाना मालूम नहीं होता। फिर भी यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि पहले वाला जल चला गया और उसके स्थान पर नया जल आ गया है। इसी प्रकार शरीर प्रतिक्षण नष्ट होता जाता है, परन्तु आयु के पूर्ण न होने से उसका नाश नहीं जान पड़ता। आजकल वैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि बारह वर्ष के बाद शरीर के सब परमाणु बदल जाते हैं; मगर सारे परमाणु किसी एक नियत समय में नहीं बदलते, वरन् क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। इसी कारण उनका बदलना स्थूल दृष्टि से मालूम नहीं होता।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि मृत्यु होजाने पर आत्मा जब शरीर रहित हो जाता है, उसके साथ देह नहीं रहती, तो फिर वह दूसरे शरीर में किसलिए प्रवेश करता है? अगर

एक वार देह का संबंध छूट जाने पर भी, दुवारा देह धारण करना आवश्यक है तो फिर मोक्ष कैसे होगा ? क्योंकि मोक्ष में जाने के पश्चात् फिर देह धारण करनी पड़ेगी। जहाँ जाने पर फिर कभी देह न धारण करना पड़े, वही मोक्ष कहलाता है। तब फिर देह छोड़कर जाने वाला आत्मा फिर क्यों जन्मता है ? अगर वह जन्मता है तो मुक्तात्मा क्यों नहीं जन्मते ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शरीर दो प्रकार के हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल शरीर के तीन भेद हैं—औदारिक, वैक्रियक, और आहारक। सूक्ष्म शरीर दो प्रकार के हैं—तैजस और कार्मण। सांसारिक जीवों का स्थूल शरीर छूटता है, सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता और मुक्त होने वाले महात्माओं का सूक्ष्म शरीर भी छूट जाता है। जिन महात्माओं का सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता, उनमें स्थूल शरीर धारण करने के संस्कार का आत्यन्तिक विनाश कर देते हैं। यही कारण है कि संसारी मृतात्मा को पुनः शरीर धारण करना पड़ता है, मगर मुक्तात्मा को नहीं धारण करना पड़ता !

वड़ का फल जब तक तोड़ा नहीं जाता, तब तक दिखाई देता है। अगर उसे तोड़ा जाय तो उसमें हजारों वारीक-वारीक बीज नज़र आते हैं। उन बीजों में से किसी भी बीज को देखिए, उसमें वड़ का वृक्ष, डाली, फल, पत्ता आदि कुछ भी दिखाई न देगा।

एक शिष्य ने अपने ज्ञानी गुरु से पूछा—शरीर धारण करने का संस्कार क्या है? गुरु ने बड़ का बीज दिखा कर कहा—देखो, इस बीज में वृक्ष वगैरह कुछ दिखाई देता है? चेले ने कहा—इसमें तो कुछ भी नहीं दिखाई देता। गुरु ने बीज को फोड़ कर बतलाया—क्या अब भी कुछ दिखाई देता देता है? चेले ने फिर नहीं उत्तर दिया—नहीं, इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता। तब गुरुजी बोले—यद्यपि इस बीज में वृक्ष, डाली, पत्ता आदि कुछ नहीं दिखाई देता, लेकिन इस बीज का मिट्टी और पानी से जब संयोग होता है, तब इसी छोटे-से बीज से बरगद का विशाल वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। यह कौन नहीं जानता? यानी इस बीज में वृक्ष दीखता नहीं है, फिर भी उत्पन्न होता है वृक्ष, बीज से ही। इसलिए बुद्धि से काम कुछ लो और प्रत्यक्ष देखकर परोक्ष को भी मानो। अगर बीज में वृक्ष, डाली, पत्ते आदि शक्ति रूप में विद्यमान न होते तो वह उत्पन्न कैसे होते? जब आँखों से देखने गये तब तो वृक्ष आदि कुछ दिखाई न दिया, लेकिन ज्ञान से देखा तो दिखाई दिये। यह बीज, जो तुम्हें नाचीज़ मालूम होता है, सभी कुछ है! इसी प्रकार शरीर धारण करने के संस्कार आँखों से दिखाई नहीं देते लेकिन ज्ञान से देखने पर अवश्य प्रतीत होते हैं।

बरगद के छोटे-से बीज में वृक्ष का सारा सत्व खिंच आता है। उसके भीतर वृक्ष का मानों पूरा चित्र मौजूद है। जैसे

सिनेमा वाले बड़ी से बड़ी चीज़ का छोटे से छोटा फोटो लेकर प्रकाश से फिर वैसी ही बड़ी चीज़ दिखलाते हैं, यही बात कर्मशास्त्र की भी समझिए। जैसे एक बड़े शहर का चित्र दाल के दाने के बराबर छोटा हो सकता है, यही हाल कर्मों का भी है।

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—नरक के जीवों के कितने शरीर होते हैं ? इसके उत्तर में भगवान् फ़र्माते हैं—हे गौतम ! नारकी जीवों के तीन शरीर होते हैं-एक स्थूल और दो सूक्ष्म। उनका स्थूल शरीर वैक्रियक है और सूक्ष्म शरीर तैजस तथा कार्मण हैं, जो कि समानरूप से सभी संसारी जीवों के होते हैं।

कार्मण शरीर कर्मों का खज़ाना है। वह अन्तः शरीर है। प्राणी जो कुछ करता है, उसका फोटो कार्मण शरीर में खिंचा जाता है फिर जैसे मिट्टी-पानी के संयोग से वड़ के छोटे-से बीज से विशाल वृक्ष उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कार्मण शरीर के संस्कारों से स्थूल शरीर उत्पन्न होता है ? वह कार्माण शरीर प्राणी का संस्कार-शरीर है। मृत्यु होने पर जीव स्थूल देह का त्याग करता है, लेकिन सूक्ष्म शरीर बने रहते हैं। कार्मण शरीर में प्राणी के जो-जो संस्कार होते हैं, उनके अनुसार पुनः सब संस्कार स्थूल रूप में आ जाते हैं। यहाँ सूक्ष्म का अर्थ आँखों से न दिखाई देने वाला बारीक समझना चाहिए, यों तो यह सूक्ष्म शरीर भी पौद्गलिक ही है।

कोई यह न समझ ले कि हम लुक-छिपकर एकान्त में जो काम करते हैं, उसे कोई देखता नहीं है। कभी मत सोचो कि जब कोई देखता हो तो पाप से अलग रहें, और कोई न देखता हो तब पाप से डरने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारा पाप कोई दूसरा व्यक्ति देखे या न देखे, मगर कार्मण शरीर में तो उसका चित्र अंकित हो ही जाता है। तुम्हारे संस्कार शरीर में उसका बंधन हुए बिना नहीं रहता। संस्कार-शरीर में बंधन किस प्रकार होता है, यह आपको मालूम नहीं होता, लेकिन बंधन अवश्य होता है। इसे समझने के लिए निम्न उदाहर उपयोगी होगा।

दूध प्रायः सभी पीते हैं। दूध पीने पर पेट में पहुंचने के पश्चात् उसका क्या-क्या होता है, यह आपको मालूम है? यह बात प्रत्यक्ष में दिखाई नहीं देती कि दूध से क्या-क्या बनता है और किस प्रकार बनता है? लेकिन वैज्ञानिक विचार से, शरीरशास्त्र की दृष्टि से और अनुभव से देखो तो मालूम होगा कि दूध किस-किस रूप में परिणमन करता है और उससे किस-किस अंग को क्या-क्या शक्ति प्राप्त होती है।

सिद्धान्त का कथन है कि पेट में गया हुआ भोजन दो भागों विभक्त होता है। खलभाग और रसभाग में। रसभाग में तैजस शरीर अलग करता है, जिसे लोकव्यवहार में जठराग्नि कहते हैं या तेज कहते हैं। खलभाग और रसभाग अलग-अलग

अलग करने के पश्चात् तैजस शरीर रसभाग में से बारीक से बारीक पुद्गल खींचकर आँख को पहुँचाता है। उससे कम बारीक पुद्गल कान में, उससे कम बारीक नाक में और उससे भी कम बारीक पुद्गल जीभ में पहुँचाता है। अर्थात् जिन पुद्गलों में सरसता अधिक होती है और रूक्षता कम होती है, ऐसे पुद्गल आँखों को मिलते हैं। यह सब कार्रवाई तैजस शरीर द्वारा आपके शरीर में होती है लेकिन आप उसे देखते नहीं हैं। लेकिन यह तो आप देखते ही हैं कि तरचीज़ खाने से आँखों का तेज बढ़ता है और बहुत चरपरी चीज़ खाने से आँखों को कष्ट पहुँचता है।

यह सब तैजस शरीर का काम है। लेकिन अब यह देखना है कि आपने जो कुछ भी खाया है, वह किस मनोभावना से खाया है। खाकर और उसके सिवाय पुद्गल आँख, कान, नाक और जीभ ने पाकर क्या किया है? इस बात का हिसाब कार्माण शरीर रखता है।

शरीर, निसर्गतः दूध, गेहूं और बाजरी से आँख का निर्माण करता है। ऐसी आँख संसार का सर्वोत्तम डाक्टर भी नहीं बना सकता। भूख जब व्याकुल बना देती है, तब आँखों में धुँधलापन आने लगता है, लेकिन उस समय अगर थोड़ा-सा दूध मिल जाय तो चेतना लौट सी आती है। आँखों का धुँधलापन मिटा कर तेजी लाना, यही आँख बनाना है। आत्मा

में ऐसी शक्ति है कि उसके चैतन्न रहने पर सभी चैतन्य रहते हैं।

दूध पीने से आँखों में तेजी आगई और शरीर में स्फूर्त्ति, लेकिन इस तेजी और स्फूर्त्ति का उपयोग क्या करना चाहिए? इस संबंध में एक कवि ने कहा है—

> दम पर दम हरभज नहीं भरोसा दम का।
> एक दम में निकल जाएगा दम आदम का॥
> दम में दम है जब तक सुमर हरि-हर को।
> दम आवे न आवे इसकी आश मत कर तू॥
> एक नाम प्रभु का जब ही हृदय में धर तू।
> नर इसी नाम से तिर जा भव-सागर तू॥
> छल करता थोड़े जीने की खातिर तू।
> वो साहब है जल्लाल जरा तो डर तू॥
> वहाँ अटल पड़ा इन्साफ़ इसी दम दम का॥
> दम पर दम हर०

तात्पर्य यह है कि नारकी जीवों के तीन शरीर होते हैं। और केवल स्थूल शरीर ही शरीर नहीं है, अपितु सूक्ष्म शरीर भी हैं, जो मृत्यु-काल में भी विद्यमान रहते हैं और जीव और पुद्गलों के परिणमन में निमित्त होते हैं।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—भगवान्! वैक्रिय शरीर वाले नारक जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या

लोभी हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फ़र्माते हैं—हे गौतम ! इस विषय में सत्ताईस भंग समझने चाहिए। क्योंकि ऐसा कोई समय नहीं होता जब वैक्रिय शरीर वाले जीव नरक में न हों। वैक्रिय शरीर वाले जीव नरक में बहुत होते हैं, इस लिए सत्ताईस भंग ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार तीनों शरीरों के संबंध में जानना चाहिए।

कहा जा सकता है कि वैक्रियक शरीर वालों के सत्ताईस भंग भगवान ने फ़र्मा दिये थे। शेष दो शरीर ही बचे थे। अतएव यह कहना चाहिए था कि 'इसी प्रकार दोनों शरीरों के संबंध में जानना चाहिये।' मगर यहाँ 'इसी प्रकार तीनों शरीरों के संबंध में जानना चाहिए,' ऐसा कहा है। इसका क्या कारण है ?

संक्षेप में इसका उत्तर यह है कि अगर तैजस और कार्मण शरीरों को वैक्रिय शरीर से अलग कर दिया जाय तो अस्सी भंग प्राप्त होंगे। जघन्य अवगाहना तैजस—कार्मण शरीर की अपेक्षा से है। इसीसे सत्ताईस भंग कहे हैं। वैक्रिय-रहित तैजस—कार्मण शरीर में अस्सी भंग मिलेंगे। अतएव भगवान ने कहा है कि तीनों शरीर साथ ही हैं। यह चर्चा केवल तैजस—कार्मण शरीर की नहीं है, किन्तु वैक्रिय सहित तैजस-कार्मण की है। इसलिए सत्ताईस ही भंग मिलेंगे। यही सूचित करने के लिए तीनों शरीरों के संबंध में जानना चाहिए, ऐसा कथन किया गया है।

शरीर होने पर संहनन भी होता है। शरीर की हड्डियों का ढाँचा संहनन कहलाता है। शरीर होगा तो हाड़ भी होंगे, माँस भी होगा, ऐसा हम लोग प्रत्यक्ष में देखते हैं। इसलिए गौतम स्वामी ने संहनन के विषय में प्रश्न किया है। वे पूछते हैं—भगवन् ! छह प्रकार के संहननों में से किस संहनन में नारकी जीवों का शरीर वर्तता है ? अर्थात् नारकी जीवों के कौन-सा संहनन होता है ? भगवन् उत्तर देते हैं—गौतम ! नरक के जीव छह संहननों में से कोई भी संहनन नहीं पाते।

साधारण धर्मशास्त्र का विद्यार्थी भी यह जानता है कि नारकी जीवों को कोई संहनन नहीं होता। फिर क्या गौतम स्वामी जैसे महान् ज्ञानी पुरुष यह बात नहीं जानते थे ? अगर वह जानते थे तो भगवन् से पूछने का उद्देश्य क्या है ?

नरक के जीवों के दुःख का वर्णन करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि परमाधामी असुर, नरक के जीवों के खड-खंड करते हैं। इस कथन पर यह संदेह किया जा सकता है कि शरीर के खंड-खड हो जाने पर भी नारकी किस प्रकार जीवित रहते हैं ? वह मर क्यों नहीं जाते ? खंड-खंड होने पर उनकी हड्डियाँ भी टूट जाती होंगी, फिर भी वह जिवित कैसे बचते हैं ? उनकी मौत नहीं होती, जितनी आयु है, वह अवश्य भोगनी पड़ती है, तो उनके शरीर का खंड-खंड कैसे हो जाता है ? इस संदेह का निवारण करने के लिए ही गौतम स्वामी ने भगवान से यह प्रश्न किया है।

भगवान ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में फ़र्माया है कि नरक के जीव असंहननी हैं। उनके शरीर में हाड़, माँस, रक्त या नसें नहीं होतीं। प्रश्न हो सकता है, जिसमें हाड़, माँस, रक्त या नसें नहीं है, वह शरीर ही कैसा? इसका उत्तर यह है कि जो पुद्गल, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ अमनोज्ञ और अमनोम होते हैं, वे नारकी जीवों के शरीर रूप में परिणत होते हैं। उन पुद्गलों की यह तासीर है कि जब उन्हें छेदा--भेदा जाय तब अलग हो जाते हैं और जब मिलाओ तो मिल जाते हैं। जैसे मिट्टी को साँचे में ढाला जाय तो उसका आकार साँचे जैसा होजाता है और मिलाया जाय तो वह मिल भी जाती है और अलग किया जाय तो अलग भी हो जाती है। इसी प्रकार नारकी जीवों के तैजस--कार्मण शरीर तो मौजूद हैं और वैक्रिय शरीर के लिए जैसे पुद्गल होते हैं, वैसा शरीर बन जाता है। फिर उन पुद्गलों को जब परमाधामी देव कहते हैं' तब वे बिखर जाते हैं और फिर मिल भी जाते हैं।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं--हे भगवन्! असंहननी शरीर में वर्त्तने वाले नरक में जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं, या लोभी हैं? इसके उत्तर में भगवान फर्माते हैं--हे गौतम! इस संबंध में सत्ताईस भंग जानने चाहिए।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन् नारकी जीवों के संहनन नहीं है तो संस्थान--शरीर का आकार--तो होगा। तो

उनके कौन-सा संस्थान है? भगवान ने उत्तर दिया--गौतम! उनका शरीर दो प्रकार का होता है--एक भवधारणीय, दूसरा उत्तर वैक्रियक। जो शरीर भव-पर्यन्त रहे वह-भवधारणीय कहलाता है। नारकी जीव, दूसरे नारकी को कष्ट पहुँचाने के लिए कभी-कभी दूसरा शरीर धारण करते हैं, वह उत्तरवैक्रियक कहलाता है।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मनुष्य को जब तीव्र क्रोध होता है, तब वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर दूसरे को कष्ट पहुंचाने की कोशिश करता है। और जब एक मनुष्य ऐसा करता है तो सामने वाला भी प्रायः ऐसा ही करता है। इसी प्रकार नारकी जीवों में जब कषाय-समुद्घात का प्रबल उदय होता है, तब वह आपस में लड़ते हैं और क्रोधसमुद्घात के साथ वैक्रियसमुद्घात करके दूसरे को पीड़ा पहुंचाने के लिए दूसरा शरीर धारण करते हैं। जब एक नारकी ऐसा करता है तब दूसरा नारकी भी ऐसा ही करता है--अर्थात् वह भी अपने प्रतिपक्षी पर प्रहार करने के लिए उत्तरवैक्रियक शरीर धारण करता है इस प्रकार वे आपस में घात-प्रतिघात किया करते हैं-

आपको अभी नरक दिखाई नहीं देता, लेकिन यह लोक तो आप देख रहे हैं। अनाथी मुनि कहते हैं—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं॥

अर्थात्—मेरी यह आत्मा ही वैतरणी नदी है, आत्मा ही कूट शाल्मलि वृक्ष है, आत्मा ही कामधेनु है और आत्मा ही नन्दन वन है। तात्पर्य यह है कि समस्त सुखों और दुःखो का कारण आत्मा ही है।

अनाथी मुनि की यह वाणी याद रक्खो। आत्मा इस लोक में नरक के दुःख उत्पन्न करता है, तभी वह नरक जाता है। अगर इस जन्म में आत्मा नरक के दुःख उत्पन्न न करे तो वह नरक भी न जावे। आज संसार जिस दुःख से घोर अशांति का अनुभव कर रहा है, वह कहाँ से आया है ? वह मनुष्य के कषाय समुद्घात का ही फल है। आजकल जिसे विज्ञान या सुधार कहते हैं, उसके द्वारा संसार में दुःख बढ़ा है या सुख, उसने आत्मा के लिए स्वर्ग का सृजन किया है या नरक का निर्माण किया है, इस बात पर विचार करना चाहिए। उदाहरणार्थ एक वैज्ञानिक ने मनुष्यों का संहार करने वाली ज़हरीली गैस बनाई। उसने सोचा यह गैस प्रतिपक्षियों की नाक में घुस कर उन्हें मार डालेगी। इस वैज्ञानिक के पक्ष वालों ने इसे होशियार माना और राजा ने उसे मान दिया। लेकिन शास्त्र यह कहता है कि वैज्ञानिक कहलाने वाले इस पामर पुरुष ने नरक के अतिरिक्त और कुछ भी पैदा नहीं किया। क्योंकि इसका प्रतिपक्षी भी बेखबर न होगा। वह दूसरी तरह की गैस बनाने की बात सोचेगा, बल्कि वह इस गैस को भी मात देने वाली गैस का आविष्कार करने की चेष्टा करेगा।

बनाते ? इसका उत्तर यह है कि भावना सुन्दर होने पर शरीर का आकार भी सुन्दर बन सकता है। लेकिन नारकों के भाव बुरे हैं, इसलिए उनके शरीर का आकार भी बुरा-हुंडक-ही बनता है। उनकी लेश्या अशुभ-पापमय है। पापमय लेश्या होने के कारण उनमें दुष्टता रहती है जिससे आकार हुंडक यानी बेढंगा बनता है।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! शरीर की आकृति से बेढंगे नारकी जीव क्रोधी हैं, मानी भी हैं, मायी भी हैं, और लोभी भी हैं। ऐसे जीव नरक में बहुत होते हैं, इसलिए सत्ताईस भंग समझना चाहिए।

संहनन और संस्थान लेश्या के अनुसार होते हैं, अतः अब गौतम स्वामी लेश्या के विषय में प्रश्न करते हैं।

# लेश्या
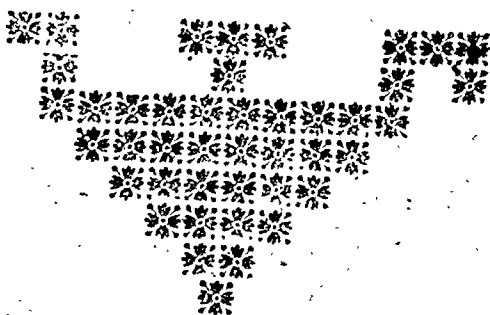
## मूलपाठ—

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरयाणं कति लेस्साओ पन्नत्ता ?

उत्तर—एगा काउलेस्सा पन्नत्ता ।

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव-काउलेस्साए वट्टमाणा० ?

उत्तर—गोयमा ! सत्तावीसं भंगा ।

प्रश्न—इमीसे णं जाव-किं सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी ?

उत्तर—तिन्नि वि ।

प्रश्न—इमीसे णं जाव-सम्मदंसणे वट्टमाण नेरइया० ?

उत्तर—सत्तावीसं भंगा। एवं मिच्छादंसणे वि सम्मामिच्छादंसणे असीइभंगा।

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! जाव-किं णाणी अन्नाणी ?

उत्तर—गोयमा ! णाणी वि, अन्नाणी वि, तिण्णि णाणाइं नियमा, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! जाव-आभिणि बोहियणाणे वट्टमाणा० ?

उत्तर—सत्तावीसं भंगा। एवं तिण्णि णाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भाणियव्वाइं।

प्रश्न—इमीसे णं जाव-किं मणजोगी, वइ जोगी, काय जोगी ?

उत्तर—तिन्नि वि ।

प्रश्न—इमीसे णं जाव-मण जोए वट्टमाणा कोहा वउत्ता• ?

उत्तर—सत्तावीसं भंगा । एवं वइजोए, एवं काय जोए ।

प्रश्न—इमीसे णं जाव-नेरइया किं सागारो-वउत्ता, अणागारोवउत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! सागारोवउत्ता वि, अणा-गारोवउत्ता वि ।

प्रश्न—इमीसे णं जाव-सागारोवयोग वट्टमाणा किं कोहा वउत्ता ?

उत्तर—सत्तावीसं भंगा । एवं अणागारोवउत्ता वि सत्तावीसं भंगा । एवं सत्त वि पुढवीओ नेयव्वाओ । णाणत्तं लेस्सासु । गाहा—

काऊ य दोसु, तइयाए मीसिया, नीलिया चउत्थीए ।
पंचमीयाए मीसा, कण्हा तत्तो परमकण्हा ॥

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या नैरयिकाणां कति लेश्याः प्रज्ञप्ताः ?

उत्तर—गौतम ! एका कापोतलेश्या प्रज्ञप्ता ।

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! रत्नप्रभाया यावत्-कापोतलेश्यायां वर्त्तमानः ?

उत्तर—गौतम ! सप्तविंशतिर्भङ्गाः ।

प्रश्न—एतस्या यावत्-किं सम्यग्दृष्टयः, मिथ्यादृष्टयः, सम्यग्-मिथ्यादृष्टयः ?

उत्तर—त्रयोऽपि

प्रश्न—एतस्या यावत्-सम्यग्दर्शने वर्त्तमाना नैरयिकाः० ?

उत्तर—सप्तविंशतिर्भङ्गाः । एवं मिथ्यादर्शनेऽपि । सम्यग् मिथ्यादर्शनेऽशीतिर्भङ्गा ।

प्रश्न—एतस्या भगवन् ? यावत्-किं ज्ञानिनः, अज्ञानिनः ?

उत्तर—गौतम ! ज्ञानिनोऽपि, अज्ञानिनोऽपि । त्रीणि ज्ञानानि नियमात्, त्रीणि अज्ञानानि भजनया ।

प्रश्न—एतस्या भगवन् ! यावत् आभिनिबोधिकज्ञाने वर्त्तमाना:० ?

उत्तर—सप्तविंशतिर्भङ्गा: । एवं त्रीणि ज्ञानानि, त्रीण्य ज्ञानानि भणितव्यानि ।

प्रश्न—एतस्या यावत्-किं मनोयोगिन:, वचोयोगिन:, काययोगिन: ?

उत्तर—त्रीण्यपि ।

प्रश्न—एतस्या यावत्-मनोयोग वर्त्तमाना: क्रोधोपयुक्ता: ?

उत्तर—सप्तविंशतिर्भङ्गा: । एवं वचोयोगे, एवं काययोगे।

प्रश्न—एतस्या यावत् नैरयिका: किं साकारोपयुक्ता: अनाकारोपयुक्ता: ?

उत्तर—गौतम ! साकारोपयुक्ता अपि, अनाकारोपयुक्ता अपि ।

प्रश्न—एतस्या यावत् साकारोपयोग वर्तमाना: किं क्रोधोपयुक्ता: ?

उत्तर—सप्तविंशतिर्भङ्गा: । एवमनाकारोपयुक्ता अपि सप्तविंशतिर्भङ्गा: । एवं सप्ताऽपि पृथिव्यो ज्ञातव्या:, नानात्वं लेश्यासु । गाथा:—

*कापोती द्वयोः, तृतीयायां मिश्रिता नीलिका चतुर्थ्याम् ।*
*पञ्चम्यां मिश्रा, कृष्णा ततः परमकृष्णा ॥*

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वा नैरयिकों को कितनी लेश्याएँ कही हैं ?

उत्तर—गौतम ! एक कापोत्त लेश्या कही है।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने व कापोत लेश्या वाले नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं ?

उत्तर—गौतम ! सत्ताईस भंग कहने चाहिए।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने व नारकी क्या सम्यग्दृष्टि हैं। मिथ्यादृष्टि हैं ? या सम्यग मिथ्यग्दृष्टि हैं !

उत्तर—ती[illegible]कार के हैं।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने व सम्यग्दृष्टि नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं।

उत्तर—गौतम ! सत्ताईस भंग कहने चाहिए। इसी प्रकार मिथ्या दर्शन जानना। सम्यग् मिथ्या दर्शन में अस्सी भंग कहने चाहिए।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

उत्तर—गौतम ! वे ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी हैं उन्हें नियम से तीन ज्ञान होते हैं और जो अज्ञानी हैं उन्हें तीन अज्ञान भजना से होते हैं।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में वसने वाले और आभिनि बोधिक ज्ञान में वर्तने वाले नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं ?

उत्तर—गौतम ! यहाँ सत्ताईस भंग कहना। और इसी प्रकार तीन ज्ञान और तीन अज्ञान कहना।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले नारकी मनोयोगी हैं, वचनयोगी हैं, या काययोगी हैं ?

उत्तर— हे गौतम ! वह प्रत्येक तीनों प्रकार के हैं।

प्रश्न— भगवन् ! इस पृथ्वी में बसने वाले और यावत्-मनोयोग में वर्तने वाले नारकी जीव क्या क्रोधोपयुक्त हैं ?

उत्तर— गौतम ! सत्ताईस भंग जानना और इसी प्रकार वचनयोग तथा काय में कहना।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले नारकी साकारोपयोग से युक्त हैं या अनाकारोपयोग से युक्त हैं ?

उत्तर—गौतम ! साकारोपयुक्त हैं और निरा कारोपयुक्त भी हैं।

प्रश्न—इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले और साकारोपयोग में वर्त्तने वाले नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं ?

उत्तर—गौतम ! सत्ताईस भंग कहना। इसी प्रकार अनाकारोपयोग में भी जानना। तथा इसी प्रकार सातों पृथिवियों में जानना। लेश्याओं में विशेषता है। वह इस प्रकार है:—

पहली और दूसरी पृथ्वी में कापोत लेश्या है, तीसरी में मिश्र लेश्या-कापोत और नील—है, चौथी में नील लेश्या है, पाँचवी में मिश्र—नील और कृष्ण—है, छठी में कृष्ण लेश्या और सातवीं में परमकृष्ण लेश्या है।

## व्याख्यान

अब गौतम स्वामी लेश्या के विषय में प्रश्न करते हैं—हे भगवन्! रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में रहने वाले जीवों में, छह लेश्याओं में से कितनी लेश्याएँ होती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवन् फ़र्माते हैं—हे गौतम! रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों जीवों में केवल कापोत लेश्या होती है।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! कापोत लेश्या में वर्त्तने वाले नरक के जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं? भगवान ने उत्तर दिया—गौतम! क्रोधी भी हैं, मानी भी हैं, मायी भी हैं और लोभी भी हैं। यहाँ सत्ताईस भंग समझने चाहिए।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन्! इस नरक के जीव सम्यग्दृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं या सम्यग्-मिथ्या-दृष्टि हैं?

जिन की दृष्टि में समभाव है वे सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझना सम्यग्दर्शन है और विपरीत स्वरूप समझना मिथ्यादर्शन है। अर्थात् जो वस्तु के स्वरूप को विपरीत रूप में देखता है उस उल्टी बुद्धि वाले को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। और जो न पूरी तरह मिथ्यादृष्टि वाला है, न सम्यग्दृष्टि वाला है, वह सम्यग्-मिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि कहलाता है। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए-तीन आदमी जा रहे हैं। एक ने सामने पड़ा हुआ सीप का टुकड़ा देखा। उसने कहा-देखो, सामने सीप का टुकड़ा पड़ा है। सीप के टुकड़े को सीप का ही टुकड़ा बताने वाला यह पहला व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है।

दूसरे आदमी ने पहले की बात सुनकर कहा—'सीप तो समुद्र में होती है। यहाँ जंगल में सीप का टुकड़ा कहाँ से आया? यह तो चांदी है।' वास्तव में सामने दिखलाई देने वाली वस्तु सीप ही है परन्तु दूसरा आदमी उसे चांदी बतला रहा है इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है।

पहले सम्यग्दृष्टि ने कहा—उसके पास चलकर निर्णय कर लो, जिससे सीप या चांदी का निर्णय हो जाय। कोई ज़िद की बात तो है नहा। अगर चांदी हुई तो लेना न लेना दूसरी बात है, पर निर्णय तो हो ही जायगा। मिथ्यादृष्टि ने उसकी बात का विरोध करते हुए कहा—इसमें निर्णय करने की क्या

आवश्यकता है ? कौन वहाँ तक जाय और वृथा चक्कर काटे ! चांदी तो वह है ही।

तब तीसरे आदमी ने कहा—'सीप हो या चांदी हो, हमें क्या करना है ? इस प्रकार कहकर वह दोनों की बात मानता है, स्वबुद्धि से निर्णय नहीं करता। ऐसा व्यक्ति सम्यग्-मिथ्यादृष्टि है। सम्यक्-दृष्टि वास्तविक निर्णय करने को तैयार है अपनी भूल सुधारने के लिए उद्यत है, मिथ्यादृष्टि दुराग्रह में पड़ा है और मिश्रदृष्टि वाला दोनों की बात सही या ग़लत दोनों प्रकार से मानता है; वह भी निर्णय नहीं करता।

सम्यग्दृष्टि जीवादि तत्वों को यथार्थ रूप से जानता है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का क्षयोपशम होने पर सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि पुरुष सदा सत्य के निर्णय के लिए उद्यत रहता है, कभी हठ नहीं करता। परन्तु मिथ्यादृष्टि किसी बात को मिथ्या समझ करके भी दुराग्रह के वश हो कर छोड़ता नहीं है और सम्यग्दृष्टि की बात को सही मानता हुआ भी कहता है कि मैंने जो बात कही है, वह मिथ्या कैसे हो सकती है ? सम्यग् मिथ्यादृष्टि अक्ल का ही दुश्मन बना रहता है। वह किसी बात का निर्णय ही नहीं करना चाहता। वह झूठी बात को झूठी और सच्ची को सच्ची सिद्ध करने में कोई दिलचस्पी नहीं लेता।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फ़र्माते हैं—गौतम ! नरक के जीव सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, मिथ्यादृष्टि भी होते हैं और मिश्रदृष्टि भी होते हैं।

नरक के जीवों को क्षण भर भी साता नहीं मिलती। फिर भी नरक में सम्यग्दृष्टि जीव पाये जाते हैं और ऐसे-ऐसे भी सम्यग्दृष्टि पाये जाते हैं जो उम्र भर सम्यग्दृष्टिपन का पालन करते हैं। यह विचारने योग्य बात है कि उस भीषण यातनामय, घोर अशान्त और भयंकर मारकाट से निरन्तर परिपूर्ण नरक में वे जीव किस प्रकार अपने सम्यक्त्व की रक्षा करते हैं।

संसार के कई लोग आपस में लड़कर कहते हैं—तेरा सम्यक्त्व यों चला गया, त्यों चला गया। उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि सम्यक्त्व श्रद्धान की वस्तु है, वह यों-त्यों कैसे चला जा सकता है ? अगर इस प्रकार सम्यक्त्व जाने लगे तो नारकी जीव कैसे सम्यग्दृष्टि रह सकते हैं ?

दुःख के अवसर पर धर्म के साक्षात् दर्शन होते हैं। कहावत है—ठोकर आने पर अक्ल आती है। इस कहावत के अनुसार बहुत से लोगों ने इस बात का पश्चाताप किया है कि—'हाय ! सत्पुरुषों ने हमें कैसा हितमय उपदेश दिया था। लेकिन मैं कैसा दुर्बुद्धि था कि उस अमृतमय उपदेश को भी मैंने ज़हर समझा !' नरक के अनेक जीव भी इसी प्रकार

पश्चात्ताप करके सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं। आप मनुष्य हैं, साहस रखिए। आपके हाथों में कोई हथकड़ी डाल सकता है लेकिन आत्मा को बन्दी बनाने की शक्ति किसी में नहीं है। कर्म जीवों को नरक में डाल देता है, लेकिन आत्मा तो वहाँ भी स्वतंत्र ही रहता है। अतएव कष्ट आने पर इस बात का विचार करना चाहिए कि मेरे आत्मा में समस्त शक्तियाँ विद्यमान हैं। मैं जो चाहूँ, कर सकता हूँ। मुझे जो कष्ट हो रहा है, वह मेरी ही दुर्बलता का परिणाम है। मेरी अपनी कमज़ोरी ही दुःखों को उत्पन्न करती है। वह दुःख रोने से कम नहीं होगा, न रोने वाला ईश्वर का हो सकेगा। जो रोता है वह रोता ही रहता है। उसे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव दुःख के समय रुदन करना योग्य नहीं, परमात्मा का स्मरण करना ही योग्य है। यही दुःखों की अमोघ और अमूल्य औषध है। रोने वाला अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा के निकट नहीं पहुंच पाता। प्रकृति की विषमता से रोने तो बड़े-बड़े लोग भी लगे, मगर वे तभी तक रोये, जब तक उन्होंने ईश्वर को नहीं पहचाना।

रोने का स्वभाव पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। स्त्रियाँ रोने वालों का दुख बढ़ाना बहुत जानती हैं। उन्हें दुःख घटाना नहीं आता। जब किसी के घर मृत्यु जैसा प्रसंग उपस्थित होता है, तब स्त्रियाँ जाती हैं उन्हें धैर्य और सान्त्वना देवे, मगर वहाँ जाकर, स्वयं रोकर उसके घर वालों को रुला

कर दुःख बढ़ाती हैं। उचित तो यह है कि रोने वालों को सान्त्वना देकर कहें—बहिन, रोती क्यों हो ? सद्गुरु के पास से धर्म की जो तलवार लाई हो, उसे इस दुःख रूपी शत्रु पर क्यों नहीं चलातीं ? इस शत्रु पर अगर तलवार न चलाई तो वह फिर किस काम में आवेगी ?

प्रत्येक बात प्रकृति का हिसाब देखकर सहज ही समझी जा सकती है। शेर भी पशु है और कुत्ता भी पशु है। लेकिन दोनों की प्रकृति में महान् अन्तर है। शेर को अगर कोई गोली मारता है तो वह तीर या गोली पर नहीं झपटता, किन्तु तीर या गोली चलाने वाले पर आक्रमण करता है। असली शेर के संबंध में कहा जाता है कि जिस स्थान से उस पर गोली चलाई जाती है, वह एक बार उस स्थान पर पहुँचने की कोशिश करता है। इसीलिए गोली या तीर चलाने वाला, तीर या गोली चलाकर कायरता धारण करके उस स्थान से भाग जाता है। शेर समझता है कि दोष गोली या तीर का नहीं है, चलाने वाला ही इसके लिए उत्तरदायी है।

इससे विरुद्ध कुत्ते की प्रकृति पर विचार कीजिए। अगर कुत्ते को कोई लकड़ी या पत्थर फेंक कर मारता है तो वह मारने वाले के बदले लकड़ी या पत्थर को ही काटने दौड़ता है। उसे नहीं मालूम कि दोष लकड़ी पत्थर का नहीं, मारने वाले का है। कई कुत्ते शक्ल में शेर सरीखे होते हैं, मगर दोनों के स्वभावों में तो जमीन-आसमान का अन्तर है।

यही बात सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के संबंध में है। सम्यग्दृष्टि की प्रकृति शेर के समान होती है और मिथ्यादृष्टि का स्वभाव कुत्ते के समान होता है। सुख-दुःख तो मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि—दोनों को होते हैं, मगर सम्यग्दृष्टि दुख देने वाले को नहीं, वरन् दुख के कारण को मारता है। सम्यग्दृष्टि दुःख के मूल उद्गमस्थान की खोज करता है। दुःख का उद्गमस्थान खोज कर वह उससे प्रवाहित होने वाली दुःख की सरिताओं को बंद कर देता है अगर वह भी शेर की तरह दुख देने वाले को मारने लगे तो उसमें और पशु में क्या अन्तर रहेगा? सम्याग्दृष्टि, इस बात में शेर की अपेक्षा अधिक विवेक से काम लेता है। कुत्ता लकड़ी-पत्थर पर झपटता है, शेर दुख देने वाले की खबर लेता है और सम्यग्दृष्टि दुख के मूल कारण को ही नष्ट करता है। सम्यग्दृष्टि सोचलेता है कि दुःख देने वाला वास्तव में दोषी नहीं है, वह तो निमित्त मात्र है। दुख तो असल में मेरी दुर्वृत्तियों ने पैदा किये हैं—मैं ही इनका जनक हूँ और मैं ही इनका नाश कर सकता हूँ। अनगारसिंह अनाथी मुनि ने नरसिंह श्रेणिक से कहा था--

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणु अप्पा मे नंदणं वणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिए।

सुख-दुख देने वाला अपना आत्मा ही है। ज्ञानी पुरुष को सुख मिलने पर न हर्ष होता है, न दुख मिलने पर शोक। दोनों अवस्थाओं में उनका समभाव होता है। सुख होने पर वे सोचते हैं--इसमें क्या है! यह कितने दिन का है! दुख मिलने पर वह सोचते हैं--यह तो हमारी ही किसी पिछली भूल का परिणाम है। ऐसा विचार करने वाले सम्यग्दृष्टि होते हैं। नरक जैसे स्थान में भी सम्यग्दृष्टि होते हैं। वे आजीवन सम्यक्त्व का पालन करते हैं। हे मनुष्यों! तुम्हें तो सभी प्रकार की सुविधाएँ हैं। तुम्हें अपने सम्यक्त्व-रत्न की अवश्य रक्षा करनी चाहिए।

तदनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! सम्यग्दर्शन वाले नारकी जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं?

भगवान् ने उत्तर फ़र्माया--गौतम! चारों प्रकार के हैं।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि जब सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही क्रोधी, मानी, मायी और लोभी हैं, तो दोनों में अन्तर ही क्या रहा? इसका समाधान यह है कि कषाय दो प्रकार की है--देशघाती और सर्वघाती। मिथ्यादृष्टि में सर्वघाती अर्थात् सम्यक्त्वनाशिनी (अनन्तानुबंधी) कषाय का सद्भाव होता है और सम्यग्दृष्टि में देशघाती अर्थात् चारित्रनाशक कषाय होती है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के संबंध में पहले किञ्चित् कहा गया है। दोनों का भेद समझने के लिए एक और उदाहरण लीजिए:--

एक आदमी लोहे के फाटक में बन्द है। यद्यपि उसमें आदमी है अवश्य, मगर न वह किसी को दीखता है, न वही किसी को देखता है। लेकिन अगर लोहे के फाटक के स्थान पर काच का फाटक लगा दिया जाय तो दीखने और देखने में बाधा न होगी। यद्यपि फाटक दोनों हैं, मगर दोनों में काफ़ी अन्तर है। ऐसा ही अन्तर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों में है। मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी-में ऐसा अज्ञान और विकार होता है कि वह मानों लोहे के काले फाटक में बंद है और न स्व को देखता है, न पर को देखता है। सम्यग्दृष्टि में भी विकार है मगर वह काच के फाटक के समान समझिए। उस फाटक से उसे आत्मा और परमात्मा का स्वरूप देखने में अन्तराय नहीं होता। विकारों का फाटक लगा देने पर भी वह तत्त्व को अवश्य देखता है। अलबत्ता, फाटक की रुकावट के कारण वह देखकर भी कुछ कर नहीं सकता—चरित्र का पालन नहीं कर सकता।

मिथ्यादृष्टि की क्रोधादिक प्रकृति तीव्र होती है। वह आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता। परन्तु सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबंधी चौकड़ी का क्षय या क्षयोपशम कर डालता है, अतः आत्मदर्शन करने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि-तीनों ही क्रोधी, मानी, मायी और लोभी तो हैं मगर तीनों में बहुत अन्तर है।

भगवान फर्माते हैं—हे गौतम! नरक के सम्यग्दृष्टि जीव भी क्रोधी, मानी, मायी और लोभी हैं। इसका विचार सत्ता-

ईस भंगों में करना चाहिये, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव नरक में सदैव होते हैं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव भी चारों प्रकार के हैं और उनका विचार भी सत्ताईस भंगों से करना चाहिए। किन्तु सम्यग्-मिथ्यादृष्टि जीवों में अस्सी भंग पाये जाते हैं, क्योंकि ऐसे जीव कभी नरक में होते हैं, कभी नहीं होते।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! नरक के जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं?

किसी भी आपत्ति से ज्ञान नहीं रुक सकता। सुखी और धनवान आदमी चाहे गरीब हो जाय, भूखों मरने लगे लेकिन उसे आँखों से पहले जैसा दिखाई देता था वैसा ही फिर भी दिखाई देगा। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव चाहे सुखी या दुखी हो, उसके ज्ञान पर पर्दा नहीं पड़ सकता। यह सुख दुख का वास्तविक कारण भी जान लेता है। यद्यपि भूल तो वैद्य से भी होती है, परन्तु वह रोग होने का कारण जान लेता है जो वैद्य नहीं है वह रोग का कारण नहीं जानता। इसी प्रकार ज्ञानी अपने दुख का कारण जानकर उसे मिटाने का उपाय करता है और अज्ञानियों को दुख का कारण दीखता ही नहीं है। जैसे सिंह तीर या गोली को न पकड़ कर तीर या गोली चलाने वाले को देख लेता है और उसे पकड़ने दौड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानी अपने कर्म को जानते हैं और यह भी समझते हैं कि कर्म हमारे ही किये हुए हैं। क्रियते-इति कर्म। अर्थात

कर्त्ता द्वारा जो किया जाय वह कर्म कहलाता है। यह जड़ कर्म बेचारे मेरा. क्या बिगाड़ सकते हैं। यह तो बोध देने के निमित्त हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया—हे गौतम ! ज्ञानी होते हैं।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—उनके कितने ज्ञान होते हैं ? भगवान ने फर्माया—तीन ज्ञान होते हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष होते हैं और अवधिज्ञान प्रत्यक्ष होता है। मतिज्ञान के प्रताप से वह कर्मों को प्रत्यक्ष देखते हैं।

नरक से जीवों को घोर वेदना होती है, ऐसे समय में ज्ञान कैसे रहता है, यह बात अनुभव से कहता हूं। मेरे शरीर में बहुत वेदना हुई थी। मेरा शरीर अग्नि-सा जलता था। ठंड का मौसिम था, फिर भी कपड़ों के बिना भी गर्मी मालूम होती थी। उस वेदना के समय मेरे मन में जैसी बातें आई, और जो बातें मैंने संतों को सुनाई, वैसी बातें फिर स्वस्थ्य होने पर भी नहीं दीख पड़ीं।

इसी प्रकार नरक के जीवों को वेदना होने पर भी उनका ज्ञान नहीं जाता। वेदना होना, वेदनीय कर्म का उदय है और ज्ञान का जाना, उस वेदना से हाय हाय करना—मोहनीय कर्म के उदय का परिणाम है। वेदनीय कर्म का उदय हो और

मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो तो ज्ञान कहीं नहीं जाता। अनाथी मुनि को ऐसा ही हुआ था। उन्हें घोर वेदना के समय भी ज्ञान था। इसी कारण उन्होंने कहा—यह रोग नहीं है, मेरे मित्र हैं।

भगवान फर्माते हैं—हे गौतम! उन्हें अपनी वेदना प्रत्यक्ष दिखाई देती है, इसले उन्हें अवधिज्ञान है और जिनमें ज्ञान नहीं है उन्हें तीव्र अज्ञान है। जिनमें ज्ञान है। उनमें तीन ज्ञान की नियमा है और जिनमें अज्ञान है उनमें तीन अज्ञान की भजना है।

गौतम स्वामी पूछते—भगवान्! तीन ज्ञान में वर्तने वाले नरक के जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं—हे गौतम! क्रोध, मान, माया और लोभ चारों हैं, लेकिन जो ज्ञानी हैं वे जानते हैं और जो अज्ञानी हैं वे नहीं जानते। यहाँ सत्ताईस भंग समझना चाहिए।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! नरक के जीव मनयोगी हैं, वचनयोगी हैं या काययोगी हैं? इसके उत्तर में भगवान ने फर्माया—नरक के जीव तीनों प्रकार के हैं।

योग किसे कहते हैं, यह बात समझ लेने पर धर्म समझने में बड़ी सुविधा होगी। योग का अर्थ है—प्रयुंजन। योगी का योग दूसरा है और यहाँ उस योग की बात नहीं है। लेकिन

मनयोग और वचनयोग के साधने से ही योगी का पद प्राप्त होता है।

मनुष्य को मन, वचन और काय यह तीन योग मिले हैं। इनसे योग करना या भोग करना यह अपनी-अपनी इच्छा पर अवलंबित है।

योग का अर्थ है—शक्ति का फैलाना। जैसे शक्ति बिजली में होती है, परन्तु उसे फैलाने के लिए तार न हो तो वह इच्छित स्थान तक नहीं फैल सकती। इसी प्रकार आत्मा में वीर्य है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से वीर्य-शक्ति प्रकट होती है, तब वह योग से मन, वाणी और शरीर में चलती है! यद्यपि वह सारी शक्ति आत्मा की ही है, मगर मन, वचन और शरीर के योग बिना वह उसी प्रकार नहीं फैल पाती जैसे बिजली की शक्ति तार के बिना नहीं फैलती।

प्रत्येक मनुष्य को मन, वाणी और कर्म के तीन योग प्राप्त हैं। अच्छे-बुरे, साहूकार-चोर, धर्मी-अधर्मी, दयालु-कसाई आदि सभी में यह तीन योग हैं। जिस प्रकार बिजली का प्रकाश मिलने पर उसकी सहायता से अच्छे काम भी किये जा सकते हैं और बुरे काम भी किये जा सकते हैं। उसी प्रकार योग का भी इच्छानुसार उपयोग किया जा सकता है और स्वर्ग के सुन्दर मार्ग की ओर भी प्रयाण किया जा सकता है। अच्छे कार्यों में भी मन जाता है और बुरे कार्यों में भी मन जाता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! नरक के जीवों का जब मनोयोग वर्तता है तब वे क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं? उत्तर में भगवान ने फरमाया—चारों प्रकार के हैं। यहाँ सत्ताईस भंग समझने चाहिए। इसी प्रकार वचनयोग और काय योग के भी सत्ताईस भंग समझना।

भगवान ने काययोग में भी सत्ताईस भंग कहे हैं। लेकिन रास्ते में जाते हुए जीव में काययोग कभी होता है, कभी नहीं होता। ऐसी अवस्था में काययोग में अस्सी भंग न कह कर सत्ताईस भंग क्यों कहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कार्मण शरीर की अपेक्षा जो अस्सी भंग होते हैं लेकिन यहाँ सिर्फ कार्मण शरीर की ही चर्चा नहीं है, सामान्य रूप से शरीर की चर्चा है। इसलिए सत्ताईस ही भंग कहे हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! नरक के जीव साकार उपयोग वाले हैं या निराकार उपयोग वाले हैं?

यहाँ साकार उपयोग और निराकार उपयोग का स्वरूप स्वरूप समझलेना उपयोगी होगा। जैसे हीरा कान्ति द्वारा और मोती पानी द्वारा पहचाना जाता है उसी प्रकार आत्मा उपयोग द्वारा पहचाना जाता है। उदाहरणार्थ—'मेरा हाथ' यह सभी कहते हैं, परन्तु हाथ का उपयोग है या इसको समझने वाले का उपयोग है?

'समझने वाले का।'

हाथ तो हाड़, मांस और रक्त का है। यह कभी रुग्ण होता है, कभी अशक्त होता है, कभी पतला पड़जाता है, कभी मोटा हो जाता है। बालकपन में छोटा रहता है, फिर धीरे-धीरे बढ़ जाता है। इसलिए यह हाथ का उपयोग नहीं है, किन्तु 'मेरा हाथ' कहने वाले को उपयोग कहते हैं। मेरी देह ऐसा कहने में 'मेरी' कहने वाले का उपयोग है। इसी उपयोग से आत्मा की प्रतीति होती है। अगर यह न हो तो आत्मा की प्रतीति होना ही कठिन हो जाय।

साकारोपयोग ज्ञान का और निराकारोपयोग दर्शन का होता है। सामान्य को जानना अनाकारोपयोग है और विशेष को जानना साकारोपयोग है।

अपढ़ आदमी भी काले-काले अक्षर देखता है और पढ़ा लिखा भी। मगर दोनों के देखने में काफी अन्तर है। अपढ़ आदमी आँख से ही अक्षर देखता है, मगर पढ़ा-लिखा बुद्धि से भी देखता है। स्थूल रूप में यह कहा जा सकता है कि यह आँख से ही देखना निराकार-उपयोग है और बुद्धि से भी देखना साकार-उपयोग है। एक को साधारण कालापन ही नज़र आता है और दूसरे को उन अक्षरों में विशेषता मालूम होती है।

बात यह है कि प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के धर्म पाये जाते हैं—सामान्यधर्म और विशेष धर्म। जिस धर्म के कारण एक

वस्तु दूसरी वस्तुओं के समान प्रतीत होती है वह सामान्य धर्म कहलाता है और जिस धर्म से एक को दूसरी वस्तु से निराला समझते हैं, वह विशेष धर्म कहलाता है। जैसे सभी गायों में गोत्व ( गोपना ) है। यह एक धर्म है। इसके कारण वह अन्य गायों के समान प्रतीत होती है, इसलिए यह सामान्य धर्म है। और ललाई गाय का विशेष धर्म है, क्योंकि वह सब गायों में नहीं पाया जाता। इन दो प्रकार के धर्मों में से सामान्य धर्म को जानना निराकारोपयोग है और विशेष धर्मों को जानना साकारोपयोग है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फ़र्माया--हे गौतम! नरक के जीवों में साकारोपयोग भी होता है और निराकारोपयोग भी होता है।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन्! साकारोपयोग और अनाकारोपयोग में वर्तने वाले नारकी जीव क्रोधी हैं मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं? भगवान् ने उत्तर दिया-यहां सत्ताईस भंग समझना चाहिए। नरक में ऐसा कभी नहीं होता, जब एक ही उपयोग वाले हों और दूसरे उपयोग वाले न हों।

यह रत्नप्रभा नरक के जीवों के संबंध में दस बातों की पृच्छा हुई। रत्नप्रभा की तरह सातों नरकों के जीवों की पृच्छा है। अन्तर केवल लेश्या में है। पहले और दूसरे नरक

के जीवों में कापोत लेश्या है। तीसरे नरक में कापोत और नील लेश्या है। चौथे नरक में नील लेश्या है। पाँचवें नरक में नील और कृष्ण लेश्या है। छठे नरक में कृष्ण लेश्या और सातवें में परम कृष्ण लेश्या है।
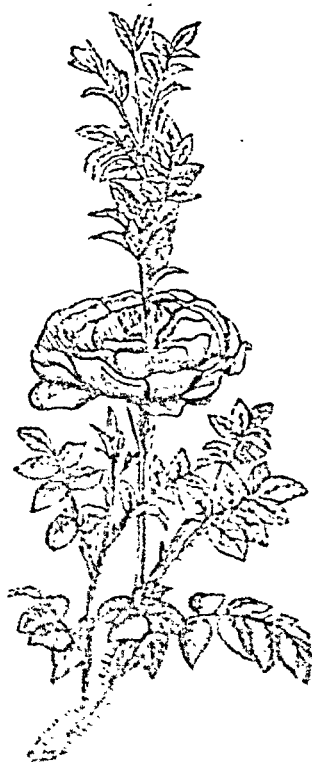
# असुर कुमारों के स्थिति स्थान आदि

मूलपाठ—

प्रश्न—चउट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावास-सयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुर-कुमाराणं केवइया ठिइट्ठाणा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! असंखेज्जा ठितिट्ठाणा पएणत्ता जइणिणाय ठिईजहा नेरइया तहा, नवरं-पडिलोभा भंगा भणियव्वा। सव्वे वि ताव होज्ज लोभोवउत्ता। अहवा लोभोवउत्ता य मायोवउत्तो य। अहवा लोभोवउत्ता य मायोवउत्ता य। एएणं गमेणं णेयव्वं जाव थणियकुमाराणं नवरं णाणत्तं जाणियव्वं।

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—चतुष्षष्ट्यां भगवन् ! असुरकुमारावास शतसतस्रेषु एकैकस्मिन् असुरकुमारावासेऽसुरकुमाराणां कियन्ति स्थातिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ।

उत्तर—असंख्येयानि स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि । जघन्या स्थितिर्यथा नैरयिकास्तथा, नवरम्-प्रतिलोमा भङ्गा भणितव्याः। सर्वेऽपि तावद् भवेयुर्लोभोपयुक्ताः । अथवा लोभोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च । अथवा लोभोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च । एतेन गमेन नेतव्यं यावत्--स्तनित कुमाराणम् । नवरम्--नानात्वम् ज्ञातव्यम् ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! चौसठ लाख असुरकुमारावासों में से एक-एक असुरकुमारावास में बसने वाले असुरकुमारों के स्थितिस्थान कितने कहे हैं ?

उत्तर—गौतम ! उनके स्थितिस्थान असंख्यात कहे हैं। वे इस प्रकार—जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति इत्यादि नारकियों के समान जाननी चाहिए।

विशेषता यह है कि भंग प्रति लोम-उलटे समझना। वे इस प्रकार हैं—समस्त असुरकुमार लोभोपयुक्त होते हैं। अथवा बहुत-से लोभोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है। अथवा बहुत से लोभोपयुक्त और मायोपयुक्त होते हैं। इत्यादि गम से जानना और इसी प्रकार स्थनित कुमारों तक जानना। विशेष यह है कि भिन्नता जाननी चाहिए।

## व्याख्यान

नरक गति के जीवों का वर्णन करने के पश्चात् यहाँ देवगति का वर्णन किया जा रहा है। दोनों के चार भेद होते हैं। जो देव पाताल में रहते हैं, वे भवनपति कहलाते हैं। उनके दस दस भेद हैं। जैन शास्त्रों में इन दस-विध देवों का नाम भवनवासी है। उन्हीं के संबंध में यहाँ प्रश्न किया गया है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! असुरकुमार देवों के चौंसठ लाख भवन—तीस लाख उत्तर में और चौंतीस लाख दक्षिण में—बतलाये हैं, उनमें से एक-एक भवन में कितने-कितने स्थितिस्थान हैं? अर्थात् जघन्य स्थिति वाले, एक समय अधिक जघन्य स्थिति वाले, दो समय अधिक जघन्य स्थिति वाले ऐसे क्रमवार स्थिति के स्थान कितने हैं? भगवान ने फ़र्माया—हे गौतम! असंख्य स्थितिस्थान हैं।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—उन असंख्य स्थितिस्थानों में रहने वाले असुरकुमारों की प्रकृति कैसी है? वह क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं? भगवान ने उत्तर दिया गौतम! चारों ही प्रकार के हैं। तब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवान्! नरक के जीवों की जैसी प्रकृति आपने बतलाई है, वैसी ही असुरकुमारों की है या उनमें कुछ अन्तर है? भगवान ने फ़र्माया—नरक के जीवों में क्रोध अधिक होता है और देवयोनि में लोभ अधिक होता है। नरक के जीवों के भंग क्रोधी, मानी, मायी, लोभी, इस प्रकार किये गये थे, परन्तु असुरकुमारों के लोभी मायी, मानी और क्रोधी, इस क्रम से हैं। क्योंकि कोई समय ऐसा आता है जब समस्त असुरकुमार लोभी ही लोभी हैं। कभी-कभी लोभ बहुत, मायी एक, लोभी बहुत मानी एक, इत्यादि भंगों वाले होते हैं। अतएव लोभी में बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए। स्तनित कुमारों तक इसी प्रकार समझना। अवगाहना और स्थितिस्थान में भेद है, इसलिए इन दोनों को अलग-अलग ही कहना चाहिए। और जैसे असुर कुमारों के संबंध मे कहा है, वैसा ही नागकुमारों के विषय में भी कहना चाहिए। असुरकुमारों के चौंसठ लाख भवन हैं, नागकुमारों के चौरासी लाख भवन हैं। सुवर्ण-कुमारों के बहत्तर लाख विद्युतादि छः के छियत्तर लाख और पवन कुमारों के निन्यानवे लाख भवन हैं सब की पृच्छा की गई है।

---

# पृथ्वीकायिकों के स्थिति-स्थान आदि

मूलपाठ—

प्रश्न—असंखिज्जेसु णं भंते ! पुढविकाइयावास सयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविकाइयाणं केवइया ठितिट्ठाणा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! असंखेज्जा ठितिट्ठाणा पगणत्ता तंजहा-जहन्निया ठिई जाव तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिई।

प्रश्न—असंखेज्जेसु णं भंते । पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि जहण्णियाए ठितीए वट्टमाणा पुढविकाइया किं कोहोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! कोहोवउत्ता वि, माणोउवत्ता वि, मायोवउत्ता वि, लोभोवउत्ता वि । एवं पुढविकाइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं। नवरं तेउ लेस्साए असीतिभंगा, एवं आउक्काइया वि । तेउ-काइया, वाउक्काइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं। वणस्सइकाइया जहा पुढविक्काइया ।

*संस्कृत-छाया—*

*प्रश्न—असंख्येयेषु भगवन् ! पृथिवी कायिकावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् पृथिवी कायिकावासे पृथिवीकायिकानां कियन्ति स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ?*

*उत्तर— गौतम ! असंख्यानि स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-जघन्या स्थितिर्यावत्-तत्प्रायोग्योत्कर्षिका स्थितिः ।*

*प्रश्न—असंख्येयेषु भगवन ! पृथिवीकायिकावास शतसहस्रेषु एकैकस्मिन् पृथिवी कायिकावासे जघन्यया स्थित्या वर्त्तमानाः पृथिवीकायिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः, मानोपयुक्ताः, मायोपयुक्ताः, लोभोपयुक्ताः ?*

उत्तर—गौतम ! क्रोधोपयुक्ता अपि, मानोपयुक्ता अपि, मायोपयुक्ता अपि, लोभोपयुक्ता अपि। एवं पृथिवीकायिकानां सर्वेष्वपि स्थानेष्वभङ्गम्। नवरं-तेजालेश्याया अशीतिर्भङ्गाः। एवं अप्कायिका अपि। तेजस्कायिकानाम् वायुकायिकानाम् सर्वेष्वपि स्थानेष्वभङ्गम्। वनस्पतिकायिका यथा पृथिवीकायिकाः।

## शब्दार्थ—

प्रश्न—हे भगवन् ! पृथीवीकायिकों के असंख्यात लाख आवासों में से एक-एक आवास में बसने वाले पृथ्वीकायिकों के स्थितिस्थान कितने कहे हैं ?

उत्तर—हे गौतम ! उनके स्थितिस्थान असंख्य कहे हैं। वे इस प्रकार-उनकी जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति, दो समय अधिक जघन्य स्थिति, इत्यादि यावत्-उसके योग्य उत्कृष्ट स्थिति।

प्रश्न—भगवन् ! पृथ्वी कायिकों के असंख्यात लाख आवासों में से एक-एक आवास में बसने वाले और जघन्य स्थिति वाले पृथ्वी कायिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं, या लोभोपयुक्त हैं ?

उत्तर—गौतम ! वे क्रोधोपयुक्त भी हैं, मानोपयुक्त भी हैं, मायोपयुक्त भी हैं और लोभोपयुक्त भी हैं। इस प्रकार पृथ्वीकायिकों के सब स्थानों में अभंगक है। विशेष यह है कि तेजोलेश्या में अस्सी भंग कहने चाहिए। इसी प्रकार अप्काय भी जानना। तेजस्काय और वायुकाय के सब स्थानों में अभंगक है। और वनस्पतिकायिक, पृथ्वीकायिक के समान समझने चाहिए।

## व्याख्यान

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—प्रभो ! आपने पृथ्वीकाय के जीवों के असंख्यात लाख आवास कहे हैं। उर्ध्वलोक में अधोलोकमें और तिरछे लोक में भी पृथ्वीकायिकों के आवास हैं, इसलिए उनकी संख्या असंख्यात है। तीनों लोकों में होने के कारण उनके आवासों की नियत संख्या का पता नहीं लगता, लेकिन प्रभो ! एक-एक आवास में बसने वाले पृथ्वीकायिकों के स्थिति-स्थान कितने ?

गौतम स्वामी के प्रश्न का भगवान ने उत्तर दिया—गौतम ! पृथ्वीकायिकों के एक-एक आवास में असंख्य-असंख्य स्थिति-स्थान हैं। उनकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त से लगाकर बाईस हजार वर्ष तक की है।

पृथ्वीकायिक का स्थान केवल शरीर-रूप ही नहीं है। भगवान ने इन जीवों का स्थिति स्थान किस प्रकार लिया है, यह बात अगम्य है, इसलिए कही नहीं जा सकती। एक-एक आवास में भी जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम स्थिति है।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा—गौतम! उनमें क्रोध, मान, माया और लोभ, चारों ही बहुत हैं। यहाँ कोई भंग ही नहीं है। जहाँ किसी प्रकार का तारतम्य हो, वहीं भंग हो सकते हैं। यहाँ तारतम्य न होने के कारण भंग नहीं होते।

स्थितिस्थानों की तरह शेष नौ बातें भी कहनी चाहिए। ऊपर असुरकुमारों के संबंध में जो कहा है, वही पृथ्वीकायिकों के विषय में समझना।

जो बात बिन्दु में है, वही सिन्धु में भी है। सिंधु में जो खेल दिखलाई देता है, वही बिन्दु में भी दिखाई देता है। लोगों की स्थूल दृष्टि सिन्धु का खेल तो कदाचित् देख लेती है, लेकिन बिन्दु का खेल नहीं देख पाती। अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो मालूम होगा—जो खेल सिंधु में है, वही बिन्दु में भी है। अगर सिंधु के खेल बिन्दु में न हों तो बिन्दु बिन्दु से बने हुए सिंधु मे वे कहां से आएँ? उदाहरण के लिए—एक गेहूँ के दाने में उससे उत्पन्न होने वाला पौधा, पत्ती आदि दिखाई

नहीं देती, परन्तु वैज्ञानिकों ने यह देख लिया है कि गेहूं के दाने के उगने पर उनकी जो स्थिति होती है, वह स्थिति उस दाने में मौजूद है। जो बात वड़ में है, वह उसके बीज में भी है। हाँ, स्थूल दृष्टि से न दिखाई देने के कारण ही यह नहीं कहा जा सकता कि वृक्ष की स्थिति बीज में है।

बहुत से लोग खनिज पदार्थों में जीव होना ही असंभव मानते थे उनकी स्थिति, संहनन, संस्थान आदि को मानना और समझना तो और भी कठिन माना जाता था। लेकिन ज्ञानी जन कहते हैं—अगर पृथ्वीकाय के जीवों में भी यह दस बातें न हों तो जीवपना ही नहीं रह सकता। भले ही हम लोग उनकी यह दस बातें न जान सकें, मगर भगवान तो जानते हैं।

भगवान फ़र्माते हैं—गौतम ! पृथ्वी के जीवों की तरह जल के जीवों के संबंध में भी जानना चाहिए।

जैसे पृथ्वी में जीव हैं, उसी प्रकार जल में भी हैं। यहां यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीकाय के जीव तो सिद्ध हुए नहीं और उनके समान जल में जीव बतला दिये, तो यह कैसे समझा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि पृथ्वीकाय में जीव हैं, यह बात चाहे स्पष्ट रूप से हमें प्रतीत न हो फिर भी विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा यह जानी गई है। पृथ्वी में जीव होने की बात हमारे मस्तिष्क की उपज नहीं है, यह ज्ञानियों के साक्षात्कार का परिणाम है। ज्ञानियों ने पृथ्वी में जीव बतलाने

के साथ ही ऐसा उपाय बतलाया है जिससे हम इस विषय में विश्वास भी कर सकते हैं।

यह तो देखा ही जाता है कि खुदी हुई खदान फिर भर जाती है। साइंस द्वारा पत्थरों का बढ़ना भी सिद्ध हो चुका है। बढ़ना जीव की शक्ति का ही आवेश है। निर्जीव चीज वयं नहीं बढ़ सकती। पत्थर किस प्रकार बढ़ता है, यह बात अपने आप से ही देखो। मनुष्य के हाथ-पैर बचपन में छोटे-छोटे होते हैं, फिर धीरे-धीरे बढ़ जाते हैं। क्या पैर बोलता, खाता या पीता है?

'नहीं!'

पैर की हड्डी पत्थर जैसी होती है, फिर भी पैर बढ़ा तो क्या चैतन्य की शक्ति के बिना ही बढ़ा है? अथवा चैतन्य शक्ति के कारण उसमें वृद्धि हुई है? जैसे चैतन्य शक्ति के द्वारा पैर की हड्डी बढ़ती है, उसी प्रकार पत्थर भी बढ़ता है। अतएव यह मानना उचित ही होगा कि जैसे हड्डी में जीव है, उसी प्रकार पत्थर में भी जीव है। स्वर्गीय जगदीचशन्द्र वसु ने भी यह बात सिद्ध की है कि जैसे बिजली मनुष्य के शरीर में है, वैसे ही बिजली पृथ्वी में भी है। उन्होंने यंत्रों की सहायता से पृथ्वी में भी जीव का अस्तित्व प्रमाणित किया है।

पृथ्वी की तरह पानी में भी जीव हैं। पानी में पड़े हुए कीड़े-मकोड़े ही पानी के जीव नहीं हैं, किन्तु पानी ही जीव

का पिंड है। यह पूछा जा सकता है कि पानी में जीव होने का क्या प्रमाण है ? मगर इससे पहले हमें यह भी सोचना चाहिए कि हमारे शरीर में जीव है या नहीं, इस बात का क्या प्रमाण है ? जब मनुष्य को क्लोरोफॉर्म सुंघा दिया जाता है, तब उसके शरीर में जीव रहता है या नहीं ? मूर्छित-अवस्था में कभी श्वास भी बन्द हो जाता है। उस समय भी जीव होता है या नहीं ? अगर होता है तो जीव होने न होने की पहचान क्या है ? जीव है या नहीं, इसकी पहचान शरीर की गर्मी या ठंडक है। शरीर में जीव होने पर शरीर गर्म रहता है और जीव निकल जाने पर शरीर ठंडा हो जाता है। शरीर में जीव होने न होने की यही पहचान है। शरीर की उष्णता जीव का लक्ष्य है। पानी में भी ऐसे ही लक्ष्य वाले जीव हैं। अगर मनुष्य जाड़े के दिनों में, भूमि के भीतरी भाग में—भोंयरे में सोएगा तो उसका शरीर बाहर निकलने पर गर्म रहेगा और गर्मी के मौसम में ऐसे स्थान पर सोएगा तो शरीर ठंडा रहेगा। जाड़े के दिनों में मुँह से भाफ़ निकलती है। यह भी जीव का लक्षण है। यह लक्षण पानी के जीवों में भी मनुष्यों की ही तरह पाये जाते हैं। गहरे कुएँ में, गर्मी के दिनों में पानी ठंडा रहता है और जाड़े के दिनों में गर्म रहता है। पानी में से भी भाफ़ निकलती है। पानी में जीव हैं, यह बात समझाने के लिए ज्ञानियों ने अनेक उदाहरण और हेतु बतलाये हैं। गर्मी-सर्दी आदि का जो प्रमाण आपके शरीर में मिलता है। वही पानी में

भी मिलता है। अतएव पानी में जीव है, इसमें संदेह नहीं रहता।

अगर पानी में जीव न होते तो ज्ञानियों को जीव बतलाने से क्या लाभ था ! अगर कोई कहे कि अपने मज़हब की विशेषता बतलाने के लिए बतला दिये होंगे तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि पानी में जीव बतलाने या न बतलाने से मज़हब में कोई विशेषता नहीं आती। तो फिर पानी में जीव न होने पर भी जीव होना बतलाकर उन्होंने अपना कौन-सा स्वार्थ-साधन किया है ? ईसाई लोग मनुष्य में आत्मा मानते हैं मगर गाय में नहीं मानते क्योंकि वे गाय का मांस-भक्षण करते हैं। जब उनसे इस विषय में प्रमाण माँगा जाता है तो कहते हैं कि ईश्वर ने पशुओं को प्राण दिया है, आत्मा नहीं दिया। पशु जो चेष्टा करते हैं वह प्राण की ही चेष्टा है। मतलब यह कि ईसाइयों को गाय खाना छोड़ना नहीं था, इसलिए उन्होंने गाय में आत्मा नहीं माना। परन्तु पानी में जीव का अस्तित्व बतलाने वाले ज्ञानियों का ऐसा कौन-सा स्वार्थ था, जिससे प्रेरित होकर वे पानी में जीव बतलाते ? बल्कि जल में जीव बतलाने और मानने से कुछ कष्ट ही बढ़ा है, न बतलाने में अधिक स्वतंत्रता और सुविधा थी। स्वयं कष्ट उठा करके भी और असुविधाओं की चिन्ता न करके भी, केवल सत्य की खातिर जल में जीवों का अस्तित्व मानना यह उनकी महान निस्पृहता, सत्यपरायणता और आप्तता है।

जल में जीव मान कर कुछ लोगों ने साधुओं की जिम्मेवरी श्रावकों पर डाल दी है। यह नितान्त अनुचित है। शास्त्रों में श्रावक को जल का दुरुपयोग न करने का उपदेश दिया गया है। यही बात अन्य शास्त्रों में भी है कि जल वृथा नहीं बिगाड़ना चाहिए, बिना छाना जल काम में नहीं लाना चाहिए और जलाशय में घुसकर भैंस की तरह क्रिड़ा नहीं करनी चाहिए। जल जगत् का रक्षक पदार्थ है। संस्कृत भाषा में इसे 'जीवन' कहते हैं। गुलाब के इत्र के बिना संसार का काम बखूबी चल सकता है परन्तु जल के बिना नहीं चल सकता। संसार में अनेक मनुष्य ऐसे होंगे जो गुलाब के इत्र को जानते ही न होंगे, परन्तु क्या कोई मनुष्य ऐसा भी मिल सकता है जिसने कभी पानी न पिया हो? जेबमें गुलाब के इत्र की शीशी पड़ी हो परन्तु जब प्यास के मारे गला सूख गया हो और मुँह से बोल न निकलता हो, तब वह इत्र काम दे सकेगा? उस समय एक लोटा जल के बदले अगर कोई इत्र की शीशी माँगे तो कौन खुशी-खुशी नहीं दे देगा? सारांश यह है कि जल दुनियां के लिए अत्यावश्यक पदार्थ है। उसका दुरुपयोग करना उचित नहीं है। किन्तु जल छानने आदि की यतना रखनी चाहिए। जल के जीवों की रक्षा करने से आपके आत्मा की और शरीर की भी रक्षा होगी। बिना छाना पानी पीने से कभी-कभी प्राण जाने की संभावना रहती है।

बहुत से लोग मुँहपत्ती बाँधने में भी शर्माते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि धर्म-पालन में शर्म की क्या बात है? धर्म की दृष्टि से न सही, स्वास्थ्य की दृष्टि से ही विचार करें तो मुँहपत्ती की उपयोगिता का पता चल सकता है। सामाजिक सभ्यता के लिहाज़ से भी मुँह के सामने कपड़ा रखना आवश्यक समझा जाता है। कहा जा सकता है क्या मुँहपत्ती बिना समाज का आदमी नहीं समझा जा सकता। इसका उत्तर यह है कि क्या पगड़ी बाँधे बिना मनुष्य नहीं कहला सकता? पगड़ी बाँधे, बिना भी मनुष्य, मनुष्य कहलाता है फिर भी सभ्यता के लिए पगड़ी बाँधी जाती है। इसी प्रकार धार्मिक सभ्यता की भी रक्षा करनी चाहिए।

पानी छानने का छन्ना भी धर्मोपकरण में है। बैठका, मुँहपत्ति आदि निवृत्तिमार्ग के धर्मोपकरण हैं और छन्ना प्रवृत्तिमार्ग का धर्मोपकरण है। प्रवृत्तिमार्ग भी धर्म के अन्तर्गत है। प्रवृत्तिमार्ग जीव के लिए स्वाभाविक है और उसमें भी धर्म हो सकता है। कहा भी है—

वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।

अर्थात्—वस्त्र से छानकर जल पीना चाहिए।

मतलब यह है कि जल में जीव होने की बात भगवान् परिपूर्ण ज्ञान को पुष्ट करने के साथ दया को भी पुष्ट करती है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब इस जल में जीव नहीं मानते थे या नहीं जानते थे तब की बात दूसरी है, लेकिन जीवों को जान-बूझकर जल पियेंगे तो बड़ा पाप होगा। मगर यह विचार ठीक नहीं। यह तो ईसाइयों की सी बात हुई कि गाय में आत्मा नहीं है, यह जानकर हम गाय खाते हैं। गाय में आत्मा मानकर नहीं खाते। जैनधर्म ऐसा झूठा आश्वासन नहीं देता कि हम जल पीते हैं, इसलिए जल में जीव ही न मानें। जल में जीव है, फिर भी जल पीना नहीं छोड़ा जा सकता। यह बात दूसरी है, लेकिन जल का उपकार तो मानना ही चाहिए। कर्ज लेना अच्छा नहीं है, फिर भी आवश्यकता होने पर कर्ज लेना ही पड़ता है परन्तु कर्ज को कर्ज तो मानना ही चाहिए। जिस प्रकार किसी सेठ की एक दुकान से लिया हुआ कर्ज उसकी दूसरी दुकान पर जमा कराने से चुक जाता है, उसी प्रकार जल का कर्ज दूसरे जीवों को चुकाया जा सकता है। जल पीने में सूक्ष्म हिंसा है, स्थूल हिंसा नहीं है। जल में जीव मानकर जल पीने से पाप लगेगा, इसलिए जल में जीव ही न मानना घोर अज्ञान है। इसमें हिंसा का पाप तो टलता नहीं और मिथ्यात्व का पाप अधिक लगता है, क्योंकि सजीव को निर्जीव मानना मिथ्यात्व है। जगदीशचन्द्र बसु ने वनस्पति में भी जीव सिद्ध किये हैं, तो क्या वनस्पति खाने वाले यह कहेंगे कि हम वनस्पति में जीव न मान कर वनस्पति खाते थे, सो पाप से बचे हुए थे। अब जगदीशचन्द्र

वसु ने जीव बतलाकर ऐसी मूर्खता की कि हमें पाप लगने लगा। कोई भी समझदार आदमी ऐसा नहीं कहेगा। वह कहेगा—वनस्पति खाये बिना मेरा काम नहीं चलता इसलिए खाता हूं, मगर इसका बदला दूसरी तरह से चुका दूंगा।

# द्वीन्द्रियादि जीव

मूलपाठ—

वेइंदिय—तेइंदिय—चउरिंदियाणं जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा तेहिं ठाणेहिं असीइं चेव। नवरं—अब्भहिया सम्मत्ते, आभिणिब्भोहियनाणे, सुयनाणे य एएहिं असीइभंगा। जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं सत्तावीसा भंगा तेसु ठाणेसु सव्वेसु अभंगयं।

पंचिंदिय तिरिक्ख जोणिया जहा नेरइया तहा भणियव्वा। नवरं—जेहिं सत्तावीसं भंगा तेहिं अभंगयं कायव्वं। जत्थ असीति तत्थ असीतिं चेव।

संस्कृत-छाया—

द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां यैः स्थानैः नैरयिकाणाम् अशीतिर्भङ्गास्तैः स्थानैरशीतिश्चैव। नवरम्-अभ्यधिकाः सम्यक्त्वे,

*आभिनिबोधिकज्ञाने, श्रुतज्ञाने च एतैरशीतिर्भङ्गाः। यैः स्थानै-नैरयिकाणां सप्तविंशतिर्भङ्गास्तेषु स्थानेषु सर्वेषु अभङ्गकम्।*

*पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका यथा नैरयिकास्तथा भणितव्याः; नवरम् यः सप्तविंशतिर्भङ्गाः, नैरभङ्गकं कर्त्तव्यम्। यत्राशीति-स्तत्राशीतिश्चैव।*

## शब्दार्थ—

जिन स्थानों में नारक जीवों के अस्सी भंग कहे हैं, उन स्थानों से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चौ-इन्द्रिय जीवों के भी अस्सी भंग होते हैं। विशेष यह है कि-सम्यक्त्व, आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान-इन तीन स्थानों में भी द्वीन्द्रिय आदि जीवों के अस्सी भंग होते हैं यह बात नारकी जीवों से अधिक है। तथा जिन स्थानों में नारकी जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, उन सभी स्थानों में यहाँ अभंगक है—अर्थात् कोई भंग नहीं होते।

जैसा नैरयिकों के विषय में कहा, वैसा ही पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिवाले जीवों के विषय में समझना चाहिए। विशेषता यह है कि-जिन स्थानों में नारकी जीवों के

सत्ताईस भंग कहे हैं, उन स्थानों में यहाँ अभंगक कहना-अर्थात् उन स्थानों में यहाँ भंग नहीं होते। और जहाँ नारकों में अस्सी भंग कहे हैं, वहाँ पंचेन्द्रिय तिर्यंकों में भी अस्सी भंग ही कहना चाहिए।

## विशेषार्थ❀

पहले नारकी जीवों के प्रकरण में संख्यात समय अधिक तक जघन्य स्थिति में, जघन्य अवगाहना में, संख्यात प्रदेश अधिक तक जघन्य अवगाहना में और मिथ्यादृष्टि की स्थिति में अस्सी भंग कहे हैं। यहाँ विकलेन्द्रिय अर्थात् दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चौ-इन्द्रिय जीवों के संबंध में भी इन स्थानों में अस्सी भंग ही समझने चाहिए। मगर मिथ्यादृष्टि वालों के अस्सी भंग नहीं समझना। यहाँ अस्सी भंग बतलाने का कारण यह है कि विकलेन्द्रिय जीव अल्प होते हैं, अतएव उनमें एक-एक जीव भी कदाचित् क्रोधादि-उपयुक्त हो सकता है। मिश्र दृष्टि वालों के अस्सी भंगों के निषेध करने का कारण यह है

---

❀ पूज्य श्री का ता० २-४-४४ का एक व्याख्यान उपलब्ध नहीं है जिससे इस पाठ का और इस उद्देशक के अन्त तक के पाठों पर व्याख्यान किया गया था। इसलिए केवल विशेषार्थ ही दि।

—सम्पादक

कि विकलेन्द्रियों में मिश्रदृष्टि होती ही नहीं है। अतएव मिश्र-दृष्टि वालों का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता।

दृष्टि द्वार और ज्ञानद्वार में नारकी जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, मगर यहाँ अधिक अर्थात् अस्सी भंग समझने चाहिए क्योंकि बहुत थोड़े विकलेन्द्रियों को सास्वादन सम्यक्त्व होता है और थोड़े होने के कारण एकत्व संभव। इस प्रकार एकत्व होने के कारण अस्सी भंग कहे गये हैं। यही बात आभिनिवोधिक ज्ञान ( मतिज्ञान ) और श्रुतज्ञान के लिए भी समझनी चाहिए। इनमें भी अस्सी भंग कहना चाहिए।

जिन-जिन स्थानों में नारकी जीवों के संबंध में सत्ताईस भंग बतलाये गये हैं, उन-उन स्थानों में विकलेन्द्रियों के संवध अभंगक अर्थात् भंगों का अभाव कहना चाहिए। अभंगक कहने का कारण यह है कि विकलेन्द्रिय जीवों में क्रोधादि-उपयुक्त जीव एक साथ बहुत पाये जाते हैं।

तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों के विषय में नारकी जीवों के समान प्ररूपणा समझनी चाहिए। मगर विशेषता यह है कि जिन स्थानों में नारकों में सत्ताईस भंग कहे हैं, इन स्थानों यहाँ अभंगक कहना चाहिए, क्योंकि क्रोधादि-उपयुक्त पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च एक ही साथ बहुत पाये जाते हैं। नारकी जीवों में जहाँ अस्सी भंग कहे गये हैं, वहाँ अस्सी भंग ही इन जीवों के संबंध में भी समझने चाहिए।

# मनुष्य

मूलपाठ—

मणुस्सा वि जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीति-भंगा तेहिं ठाणेहिं मणुस्साणं वि असीतिभंगा भाणियव्वा। जेसु ठाणेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं। नवरं-मणुस्साणं अब्भहियं जहण्णियठिइए, आहारए य असीतिभंगा।

संस्कृत-छाया—

*मनुष्या अपि यः स्थानैः नैरयिकाणामशीतिर्भङ्गास्तैः स्थानैर्मनुष्याणामपि अशीतिर्भङ्गा भणितव्याः। येषु स्थानेषु सप्तविंशतिस्तेषु अभङ्गकम्। नवरं-मनुष्याणामभ्याधिकं जघन्य-स्थित्यां, आहारके चाशीतिर्भङ्गाः*

## शब्दार्थ—

नारकी जीवों में जिन-जिन स्थानों में अस्सी भंग कहे हैं, उन-उन स्थानों में मनुष्यों में भी अस्सी भंग कहने चाहिए। और नारकियों में जिन स्थानों में सत्ताईस भंग कहे हैं, उन स्थानों में, मनुष्यों में अभंगक कहना चाहिए। विशेषता यह है कि मनुष्यों में जघन्य स्थिति में और आहारक शरीर में अस्सी भंग कहने चाहिए।

## विशेषार्थ

पहले नारकी जीवों का दस द्वारों से विवेचन किया जा चुका है। उन द्वारों से जिन द्वारों में नारकियों के अस्सी भंग कहे हैं, उन द्वारों में मनुष्य के संबंध में भी अस्सी भंग ही समझने चाहिए। एक समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर असंख्यात समय अधिक तक की जघन्य स्थति में जघन्य अवगाहना में तथा एक दो प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना से लेकर असंख्यात प्रदेश अधिक तक की जघन्य अवगाहना में और मिथ्यदृष्टि में नारकी जीवों के विषय में अस्सी भंग कहे हैं। इन द्वारों में मनुष्य-संबंधी भंग भी अस्सी ही समझने चाहिए, क्यों कि ऐसे मनुष्य कम होते हैं।

मगर इस कथन का आशय यह न समझ लिया जाय कि नारकी और मनुष्य की सम्पूर्ण प्ररूपणा एक समान ही है।

दोनों की प्ररूपणा में अन्तर भी है। वह अन्तर यह है कि जिन स्थानों में नारकियों के सत्ताईस भंग बतलाये हैं, वहाँ मनुष्य में अभंगक समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि नारकी जीवों में अधिकांशतः क्रोध का ही उदय होता है, इस कारण नारकियों में सत्ताईस भंग कहे गये हैं, किन्तु मनुष्य क्रोधादि सभी कषायों में उपयुक्त बहुत पाये जाते हैं और उनके कषायोदय में कोई खास विशेषता नहीं है। इसलिए मनुष्य के संबंध में भंगों का अभाव बतलाया गया है।

मनुष्य की प्ररूपणा में इतनी बात नारकियों से अधिक समझनी चाहिए—जघन्य स्थिति में मनुष्यों के अस्सी भंग होते हैं, जबकि नारकियों के सत्ताईस ही होते हैं। और आहारक शरीर में मनुष्यों के अस्सी भंग समझने चाहिए। आहारक शरीर वाले मनुष्य कम ही होते हैं अतएव उनके अस्सी भंग कहे हैं। नारकियों में आहारक शरीर होता ही नहीं है।
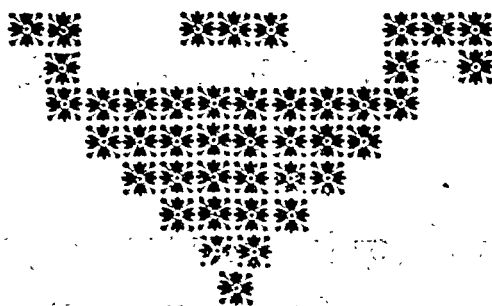
# वाण व्यन्तर

## मूलपाठ—

वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा भवणवासी णवरं-णाणत्तं जाणियव्वं जं जस्स, जाव अणुत्तरा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

### संस्कृत-छाया—

वानव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिका यथा भवनवासिनः। नवरं-नानात्वं ज्ञातव्यं, यद् यस्य, यावद्-अनुत्तराः।

तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् ! इति यावत्-विहरति।

## शब्दार्थ—

वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देव, भवनवासियों के समान जानने चाहिए। विशेषता यह है कि जिसकी

जो भिन्नता है वह जाननी चाहिए। यावत् अनुन्तर-विमान तक जानना।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। ऐसा कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

## विशेषार्थ

पहले भवन वासियों का दस द्वारों में वर्णन किया गया गया है। उसी वर्णन के अनुसार वाण-व्यंतर, ज्योतिषी और वैज्ञानिकों का वर्णन समझना चाहिए। भवन वासियों के जहाँ अस्सी भंग कहे हैं वहाँ अस्सी भंग और जहाँ सत्ताईस भंग कहे हैं वहाँ सत्ताईस भंग वाणव्यंतर आदि के भी समझ लेना चाहिए।

भवनवासी और व्यंतर देवों का वर्णन एक समान है। किन्तु ज्योतिषी और वैमानिकों के वर्णन में कुछ अन्तर है। यह बात प्रकट करने के लिए ही कहा गया है कि जिसमें जहाँ जो विशेषता हो वह जान लेनी चाहिए जैसे लेश्या द्वार में ज्योतिषी देवों में सिर्फ एक तेजोलेश्या ही पाई जाती है। ज्ञान द्वार में तीनों ज्ञान और तीनों अज्ञान पाये जाते। असंज्ञी ज्योतिषी दोनों में उत्पन्न नहीं होते अतएव विभंगज्ञान पर्याप्त अवस्था में भी होता है।

वैमानिक देवों में भी लेश्याद्वार में भवनवासियों से कुछ भिन्नता है। वैमानिकों में तेजोलेश्या आदि-तीन शुभ लेश्याएँ ही पाई जाती है। इसी प्रकार ज्ञानद्वारा में तीन ज्ञान और तीन अज्ञान यहाँ कहने चाहिए।

'सेवं भंते, सेवं भंते' पदों का विवेचन पहले के समान ही समझना चाहिए।

## ❀ जवाहिर साहित्य ❀

| ( हिन्दी ) | मूल्य |
| --- | --- |
| १ अहिंसा व्रत | I) |
| २ धर्म व्याख्या | I=) |
| ३ सत्यव्रत | I) |
| ४ ब्रह्मचर्य व्रत | I-) |
| ५ सेठ धन्नाजी | III) |
| ६ सती मदनरेखा | II=) |
| ७ तीन गुणव्रत | I)II |
| ८ चार शिक्षाव्रत | II) |
| ९ जवाहिर संस्मरण | I) |
| १० अनुकम्पा विचार | I) |
| ११ छट्ठी किरण | III) |
| १२ सातवीं किरण | २) |
| १३ भगवती सूत्र पर व्याख्यान भाग १ | १) |
| १४ भगवती सूत्र पर व्याख्यान भाग २ | १II) |
| १५ भगवती सूत्र पर व्याख्यान भाग ३ | छप रहा है |
| १६ हरिश्चन्द्र तारा | ,, |
| १७ सती चन्दनबाला | ,, |

प्राप्ति स्थान—

श्रीजैन हितेच्छु श्रावक मं. रतलाम